संक्षिप्त
आत्म कथा

प्रकाशकीय

जिन पुस्तकों ने संसार में सबसे अधिक ख्याति प्राप्त की है, उनमें गांधीजी की 'आत्म-कथा' का प्रमुख स्थान है। विश्व की शायद ही कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण भाषा बची हो, जिसमें इस मूल्यवान पुस्तक का अनुवाद न हुआ हो।

आज से कई वर्ष पूर्व अनुभव किया गया कि ऐसी जीवनोपयोगी पुस्तक का लाभ हमारे विद्यार्थियों को भी मिलना चाहिए। विस्तृत 'आत्म-कथा' में से बालोपयोगी अंश चुनकर तथा कुछ प्रसंग 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' में से लेकर यह संस्करण तैयार किया गया। हमें यह सूचना देते हुए हर्ष होता है कि विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी पाई गई और इतनी लोकप्रिय हुई कि इसके बारह संस्करण अबतक निकल चुके हैं। तेरहवां पाठकों के हाथ में है।

गांधीजी के प्रयोग और उनके विचार मानव-जीवन को उदात्त बनानेवाले हैं। अतः इनकी उपयोगिता सर्वकालिक और सार्वदेशिक है। हमारे बाल और युवक विद्यार्थियों के लिए तो यह और भी महत्त्व की है; क्योंकि भारत के नवनिर्माण की जिम्मेदारी उन्हीं पर है और उन्हें इस भारी दायित्व के योग्य अपने को बनाना है।

पुस्तक की भाषा इतनी सरल और विषय इतने रोचक हैं कि बालक और युवा, सब आसानी से समझ सकते हैं।

हम आशा करते हैं कि इस पुस्तक की लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ेगी और भविष्य में इसकी लाखों प्रतियां खपेंगी।

—मंत्री

सम्पादकीय

अरसे से यह महसूस किया जा रहा था कि 'आत्म-कथा' का एक संक्षिप्त संस्करण निकले, जिसमें गांधीजी के जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाएं आ जायं और उसकी स्फूर्ति तथा शिक्षा में किसी प्रकार की कमी न हो।

इस संस्करण के तैयार करने में मुख्य ध्यान इस बात पर रखा गया है कि यह स्कूलोपयोगी हो, इसलिए इसमें बहुत से लंबे विवरण और चर्चा, जो स्कूल-जीवन में विशेष उपयोगी नहीं हो सकते, 'आत्म-कथा' में से कम कर दिये गए हैं। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह-सम्बन्धी कुछ भाग, जो मूल 'आत्म-कथा' में विस्तार-भय से छोड़ दिया था, वह दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के आधार पर इस संस्करण में जोड़ दिया है।

भाषा, जहां तक संभव हुआ है, मूल हिंदी संस्करण की ही रखी गई है। जहां नया अनुवाद करना पड़ा है, वहां भी भाषा को सरल और सुबोध बनाने का प्रयत्न किया गया है। गांधीजी का जीवन इतना महान्, इतना खुला और ऐसा व्यापक है कि उसको जाने और उससे स्फूर्ति पाये बिना हिंदुस्तान का मनुष्य कैसे रह सकता है? जिस महापुरुष के कार्यों ने भारतीय राष्ट्र के प्रत्येक अंग को छुआ है—छुआ ही नहीं, उसको प्रभावित भी किया है—उसके ज्ञान से भला हिंदुस्तानी विद्यार्थी कैसे अछूता रखा जा सकता है? क्योंकि गांधीजी की बालकोचित सरलता, पारदर्शी निष्कपटता, दुर्दमनीय उत्साह, असीम कार्यशक्ति और सबसे बढ़कर हरेक पर अपनी छाप डालनेवाला उनका प्रेम-भाव, ये ऐसे गुण हैं जिनकी छाप 'आत्म-कथा' के पाठक पर पड़े बिना नहीं रह सकती। और इन गुणों का उदाहरण एक विद्यार्थी के जीवन को बनाने के लिए बहुत ही आवश्यक है। इस दृष्टि से यह 'आत्म-कथा' विद्यार्थियों तथा नवयुवकों के बड़े काम की चीज है। हमें आशा है कि भारत के विद्यार्थीगण और नवयुवक, जिनके कंधों पर कल के हिंदुस्तान का बोझ पड़नेवाला है, अपने लिए इस संस्करण को बहुत उपयोगी पायेंगे।

दिल्ली,

६-७-३९

—महादेव ह० देसाई

—हरिभाऊ उपाध्याय

८

विषय-सूची

१. बचपन ७
२. स्कूलमें ९
३. हाईस्कूलमें ११
४. विवाह और मांस-भक्षण १५
५. आंखें खुलीं १९
६. चोरी और प्रायश्चित्त २२
७. धर्म की झलक २५
८. तीन प्रतिज्ञाएं २७
९. पहला अनुभव २९
१०. प्रतिज्ञाने रक्षा की ३२
११. सभ्य बननेके प्रयत्नमें ३४
१२. सादगीकी ओर ३७
१३. प्रलोभनसे बचा ४०
१४. बैरिस्टर हुआ ४३
१५. दक्षिण अफ्रीकामें ४४
१६. सेवाका श्रीगणेश ५०
१७. तूफानके चिह्न ५३
१८. कसौटी ५५
१९. सेवाभाव और सादगी ६२
२०. एक पुण्य-स्मरण और प्रायश्चित्त ६५
२१. बोअर-युद्ध ६७
२२. देश-गमन तथा मेरी श्रद्धा ७०
२३. फिर दक्षिण अफ्रीका ७९
२४. एक पुस्तकका चमत्कारी प्रभाव ८२
२५. फिनिक्सकी स्थापना ८४
२६. जुलू-विद्रोह ९१
२७. जीवन भरका निश्चय ९३
२८. घरमें सत्याग्रह ९६
२९. संयमकी ओर ९९
३०. वकील-जीवन की कुछ स्मृतियां १०२
३१. सत्याग्रहका जन्म १०५
३२. जेलमें १०७
३३. जेलके प्रथम अनुभव १०९
३४. स्मरणीय प्रसंग—१ १११
३५. स्मरणीय प्रसंग—२ ११५
३६. फिर सत्याग्रह ११६
३७. टॉल्स्टॉय-आश्रम ११९
३८. अच्छे-बुरेका मेल १२३
३९. बहनोंका हिस्सा—१ १२६

४०. वहनोंका हिस्सा—२ १३०
४१. मजदूर भी १३२
४२. हमारा कूच—१ १३७
४३. हमारा कूच—२ १४०
४४. सत्याग्रहकी विजय १४५
४५. गोखलेसे मिलने १४८
४६. लड़ाईमें भाग १५१
४७. गोखलेकी उदारता १५४
४८. विदा १५७
४९. गोखलेके साथ पूनामें १५९
५०. धमकी ? १६२
५१. शांतिनिकेतनमें १६५
५२. तीसरे दर्जेकी मुसीबत १६६
५३. मेरा प्रयत्न १६९
५४. आश्रमकी स्थापना १७१
५५. कसौटीपर १७३
५६. गिरमिट-प्रथा १७६
५७. नीलका दाग १८०
५८. बिहारकी सरलता १८३
५९. अहिंसादेवीका साक्षात्कार १८५
६०. कार्य-पद्धति १८९
६१. मजदूरोंसे संबंध १९३
६२. रौलट-ऐक्ट और मेरा धर्म-संकट १९७
६३. एक अद्‌भुत दृश्य २०२
६४. वह सप्ताह !—१ २०५
६५. वह सप्ताह !—२ २१०
६६. 'हिमालय-जैसी भूल' २१३
६७. पंजाबमें २१५
६८. कांग्रेसमें प्रवेश २१८
६९. एक संवाद २२२
७०. पूर्णाहुति २२५

●

संक्षिप्त

आत्म-कथा

१

बचपन

मेरे पिता—कबा गांधीको धन जोड़नेका लोभ न था। इससे हम भाइयोंके लिए वह बहुत थोड़ी सम्पत्ति छोड़ गये थे।

पिताजीने शिक्षा केवल अनुभवसे प्राप्त की थी। स्कूली शिक्षा उन्होंने उतनी ही पाई रही होगी, जिसे आज हम 'अपर प्राइमरी' कहते हैं। इतिहास-भूगोलका ज्ञान उन्हें बिल्कुल न था, मगर व्यावहारिक ज्ञान इतने ऊँचे दर्जेका था कि सूक्ष्म-से-सूक्ष्म प्रश्नों-को सुलझानेमें या हजारों आदमियोंसे काम लेनेमें उन्हें कठिनाई न होती थी। धार्मिक शिक्षा नहींके बराबर थी, परन्तु मन्दिरोंमें जानेसे, कथा-पुराण सुननेसे, जो धर्म-ज्ञान असंख्य हिंदुओंको सहजमें मिल जाता है, वह उन्हें मिला था। अपने अन्तिम दिनों-में एक विद्वान् ब्राह्मणकी सलाहसे, जो कि हमारे कुटुंबके मित्र थे, उन्होंने गीता-पाठ शुरू किया था, और नित्य पूजाके समय कुछ श्लोक ऊँचे स्वरसे पाठ किया करते थे।

वह कुटुंब-प्रेमी, सत्यप्रिय, शूर और उदार परन्तु, क्रोधी थे। रिश्वतसे सदा दूर भागते थे, और इसी कारण अच्छा न्याय करते थे, ऐसी प्रसिद्धि उनकी, हमारे कुटुंबमें तथा बाहर भी, थी। वह राजकोटमें कुछ समय तक प्रधानमंत्री रहे थे और राज्यके बड़े वफादार थे। एक बार असिस्टेंट पोलिटिकल एजेंटने राजकोटके ठाकुरसाहबकी शानके खिलाफ कुछ शब्द कहे, तो उन्होंने उसका विरोध किया। साहब बिगड़ पड़े और कबा गांधीको माफी माँगन-

का हुक्म दिया। माफी माँगनेसे इन्कार कर देनेपर कुछ घंटों हवालातमें भी रहे, पर वह डिगे नहीं, इससे अन्तमें साहबने उन्हें छोड़ देनेकी आज्ञा दी।

मेरे मनपर ऐसे संस्कार हैं कि मेरी माताजी साध्वी स्त्री थीं, वह बहुत भावुक थीं। पूजा-पाठ किये बिना कभी भोजन न करतीं, वैष्णव-मन्दिर रोज जातीं। मैंने जबसे होश सम्भाला, याद नहीं पड़ता कि उन्होंने चातुर्मासका व्रत कभी छोड़ा हो। कठिन-से-कठिन व्रत वह लेतीं और उन्हें पूरा करतीं। बीमार पड़ जानेपर भी वह लिये हुए व्रतोंको न छोड़तीं। ऐसा एक समय मुझे याद है, जब उन्होंने चांद्रायणव्रत किया था। उसमें बीमार पड़ गईं, पर व्रत न छोड़ा। चातुर्मासमें एक समयके भोजनका व्रत तो उनके लिए मामूली बात थी। इतनेसे संतोष न पाकर एक बार, चातुर्मासमें उन्होंने हर तीसरे दिन उपवासका नियम लिया। लगातार दो-तीन उपवास उनके लिए मामूली बात थी। एक चातुर्मास में उन्होंने सूर्यनारायणके दर्शन करनेके बाद ही भोजन करनेका नियम लिया। इस चौमासेमें हम बच्चे बड़ी उत्सुकतासे बादलोंकी ओर देखा करते कि कब सूर्य निकलनेकी खबर माँ को दें और वह कब भोजन करें। चौमासेमें बहुत बार सूर्य-दर्शन दुर्लभ होते हैं। मुझे ऐसे दिन याद हैं, जबकि हम सूर्यको देखते और चिल्लाते, "माँ, माँ, सूरज निकला!" और माँ जल्दी-जल्दी आतीं, तबतक सूर्य छिप जाता। वह यह कहती हुई लौट जातीं, "कोई बात नहीं, भगवान् की मरजी नहीं कि आज भोजन मिले।" और जाकर अपने कामों में लग जातीं।

वह व्यवहार-कुशल भी थीं। राज-दरबारकी सब बातें जानती थीं। रनवासमें वह बुद्धिमती समझी जाती थीं। बचपनमें मैं माँके साथ दरबारगढ़ जाया करता था, और माँजी साहब (ठाकुर साहबकी विधवा माता) से उनकी जो बातचीत होती वह कुछ-कुछ मुझे अबतक याद है।

इन माता-पिता के यहाँ आश्विन बदी १२ संवत् १९२५

(अर्थात् २ अक्तूबर १८६९ ईसवीको) पोरबन्दर अथवा सुदामापुरी में मेरा जन्म हुआ।

बचपन पोरबन्दरमें ही बीता। ऐसा याद पड़ता है कि किसी पाठशालामें पढ़ने बैठाया गया था। मुश्किलसे कुछ पहाड़े सीखे होंगे, बाकी तो और लड़कों के साथ गुरुजी को गाली देना सीखनेके अलावा और कुछ सीखा, याद नहीं है, इससे यह अनुमान करता हूँ कि मेरी बुद्धि मन्द रही होगी और स्मरण-शक्ति कच्ची।

२

स्कूलमें

पोरबन्दरसे पिताजी 'राजस्थानिक कोर्ट' के सदस्य होकर जब राजकोट गये तब मेरी उम्र कोई सात सालकी रही होगी। राजकोटकी देहाती पाठशालामें भरती कराया गया। उन दिनोंका मुझे भली-भाँति स्मरण है। मास्टरोंके नाम-धाम भी याद हैं। पोरबन्दरकी तरह वहाँकी पढ़ाईके सम्बन्धमें कोई खास बात जानने लायक नहीं। मेरी गिनती साधारण श्रेणीके विद्यार्थियों-में रही होगी। पाठशालासे ऊपरके स्कूलमें और वहाँसे हाईस्कूल तक पहुंचनेमें मेरा बारहवाँ वर्ष बीत गया। मैं झूठ बोला होऊं, ऐसी याद नहीं पड़ती। न किसीको दोस्त बनानेका स्मरण है। मैं बहुत संकोची लड़का था, मदरसेमें अपने काम-से-काम रखता। घंटी बजते-बजते पहुँच जाता और स्कूल बंद होते ही घर भाग आता। 'भाग आता' शब्द का प्रयोग जानबूझकर किया है; क्योंकि मुझे किसीके साथ बातें करना नहीं रुचता था—मुझे यह डर भी बना रहता था कि कोई मेरा मजाक न उड़ाये।

हाईस्कूलके पहले वर्षकी परीक्षाके समयकी एक घटना उल्लेखनीय है। शिक्षा-विभागके इंस्पेक्टर, जाइल्स साहब, मुआ-इनेके लिए आये। उन्होंने पहले दर्जेके विद्यार्थियों को पाँच शब्द लिखवाये। उनमें एक शब्द था कैटल (Kettle)। उसके हिज्जे

मैंने गलत लिखे। मास्टरने मुझे अपने बूटसे ठोकर देकर चेताया, पर मैं कहाँ समझनेवाला था ? मेरे दिमागमें यह बात नहीं आई कि मास्टर साहब मुझे सामनेके लड़केकी स्लेट देखकर हिज्जे दुरुस्त करनेका इशारा कर रहे हैं। मैंने यह मान रखा था कि मास्टर तो इसके लिए तैनात है कि कोई लड़का दूसरेकी नकल न कर सके। सब लड़कोंके पाँचों शब्द सही निकले, अकेला मैं ही बेवकूफ बच गया। मेरी बेवकूफी बादको मास्टरने बतलाई। पर मेरे मनपर उसका कोई असर न हुआ। मुझे दूसरे लड़कोंसे नकल करना कभी न आया।

ऐसा होते हुए भी मास्टर साहबके प्रति मेरा आदर कभी न घटा। बड़े-बूढ़ोंके दोष न देखनेका गुण मुझमें स्वाभाविक था। बादको तो इन मास्टर साहबके दूसरे दोष भी मेरी नजरमें आये। फिर भी उनके प्रति मेरा आदर ज्यों-का-त्यों कायम रहा। मैं इतना जानता था कि बड़े-बूढ़ोंकी आज्ञाका पालन करना चाहिए, जो वे कहें करना चाहिए; वे जो कुछ करें, उसका काजी हमें न बनना चाहिए।

इसी बीच दूसरी दो घटनाएँ हुईं, जो मुझे सदा याद रही हैं। मामूलीतौर पर मुझे कोर्सकी पुस्तकोंके अलावा कुछ भी पढ़नेका शौक न था। सबक पूरा करना चाहिए, डाँट सही नहीं जाती थी, मास्टरसे छल-कपट करना नहीं था, इन कारणोंसे मैं सबक पढ़ता, पर मन न लगा करता। इससे सबक बहुत बार कच्चा रह जाता। ऐसी हालतमें दूसरी पुस्तक पढ़नेको जी कैसे चाहता ? परन्तु पिताजीकी खरीदी एक पुस्तक 'श्रवण-पितृ-भक्ति' नाटकपर मेरी नजर पड़ी। इसे पढ़नेको दिल चाहा। बड़े अनुराग और चावसे मैंने उसे पढ़ा। इन्हीं दिनों काठके बक्समें शीशोंसे तस्वीर दिखानेवाले भी फिरा करते। उनमें मैंने श्रवणका अपने माता-पिताको काँवरमें बैठाकर यात्राके लिए ले जानेवाला चित्र देखा। दोनों चीजोंका मुझपर गहरा असर पड़ा। मनमें श्रवणके समान होनेके विचार उठते। श्रवणकी मृत्युपर उसके माता-पिताका विलाप

मुझे अब भी याद है। उस ललित छन्दको मैंने बजाना सीख लिया था। मुझे बाजा सीखनेका शौक था और पिताजीने एक बाजा ला भी दिया था।

इसी समय कोई नाटक-कम्पनी आई और मुझे उसका नाटक देखनेकी छुट्टी मिली। इसमें हरिश्चन्द्रकी कथा थी। यह नाटक देखनेसे मेरी तृप्ति नहीं होती थी। बार-बार उसे देखनेको मन हुआ करता, पर बार-बार जाने कौन देता? पर अपने मनमें मैंने हरिश्चन्द्रका नाटक सैकड़ों बार खेला होगा। हरिश्चन्द्रके सपने आया करते। यही धुन लगी कि 'हरिश्चन्द्रकी तरह सत्यवादी सब क्यों न हों?' यही धारणा होती कि हरिश्चन्द्रके जैसी विपत्तियाँ भोगना और सत्यका पालन करना ही सच्चा सत्य है। मैंने तो यही मान रखा था कि नाटकमें जैसी विपत्तियाँ हरिश्चन्द्रपर पड़ी हैं, वैसी ही वास्तवमें उसपर पड़ी होंगी! हरिश्चन्द्रके दुःखोंको देखकर और उन्हें याद करके मैं खूब रोया हूँ। आज मेरी बुद्धि कहती है कि सम्भव है, हरिश्चन्द्र कोई ऐतिहासिक व्यक्ति न हों, पर मेरे हृदयमें तो हरिश्चन्द्र और श्रवण आज भी जीवित हैं। मैं मानता हूं कि आज भी यदि मैं उन नाटकों को पढ़ूं तो आँसू आये विना न रहें।

३

हाईस्कूलमें

जब मेरा विवाह हुआ तब मैं हाईस्कूलमें पढ़ता था। हाई-स्कूलमें मैं मन्द-बुद्धि विद्यार्थी नहीं माना जाता था। शिक्षकोंका प्रेम तो मैंने सदा प्राप्त किया था। हर साल माता-पिताको विद्यार्थी-की पढ़ाई तथा चाल-चलनके सम्बन्धमें प्रमाण-पत्र भेजे जाते। इनमें किसी दिन मेरी पढ़ाई या चाल-चलनकी शिकायत नहीं की गई। दूसरे दर्जेके बाद इनाम भी पाये और पाँचवें तथा छठे दरजे-में तो क्रमशः चार और दस रुपये मासिक की छात्र-वृत्तियाँ भी मिली थीं। इस सफलतामें मेरी योग्यताकी अपेक्षा भाग्यका

ज्यादा जोर था। ये छात्र-वृत्तियाँ सब लड़कोंके लिए नहीं, सौराष्ट्र प्रान्त के विद्यार्थियोंके ही लिए थीं और उस समय चालीस-पचास विद्यार्थियोंके दरजेमें सौराष्ट्र-काठियावाड़के विद्यार्थी हो ही कितने सकते थे ?

मेरी यादके अनुसार अपनी होशियारीपर मुझे नाज न था। इनाम अथवा छात्र-वृत्ति मिलती तो मुझे आश्चर्य होता, परन्तु हाँ, अपने चरित्रका मुझे बड़ा खयाल रहता था। सदाचारमें यदि चूक होती तो मुझे रुलाई आ जाती। यह मेरे लिए बर्दाश्तसे बाहर था कि मेरे हाथों कोई ऐसी बात हो कि शिक्षकको शिकायत का मौका मिले या वह मनमें भी ऐसा सोचें। मुझे याद है कि एक बार मार खानी पड़ी थी; उसमें मार खानेका तो दुःख न था, पर इस बातका पछतावा था कि मैं दण्डका पात्र समझा गया। मैं खूब रोया। यह घटना पहले या दूसरे दर्जेकी है। दूसरा प्रसंग सातवें दर्जेका है। उस समय दोराबजी एदलजी गीमी हेडमास्टर थे। वह कड़ा अनुशासन रखते थे, फिर भी विद्यार्थियोंमें प्रिय थे। वह बाकायदा काम करते और काम लेते और पढ़ाते भी अच्छा थे। उन्होंने ऊँचे दर्जेके विद्यार्थियोंके लिए कसरत, क्रिकेट अनिवार्य कर दी थी। मेरा मन उसमें न लगता था। अनिवार्य होनेके पहले तो मैं कसरत, क्रिकेट या फुटबालमें कभी जाता ही न था। न जानेमें मेरा संकोची स्वभाव भी एक कारण था। अब मैं देखता हूँ कि कसरतकी यह अरुचि मेरी भूल थी। उस समय मेरे ऐसे गलत विचार थे कि कसरतका शिक्षा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। बादमें समझमें आया कि विद्याभ्यासमें व्यायाम-का अर्थात् शारीरिक शिक्षाका मानसिक शिक्षाके समान ही स्थान होना चाहिए।

फिर भी मैं कहना चाहता हूँ कि कसरत में न जानेसे हानि न हुई। कारण, मैंने पुस्तकोंमें खुली हवामें घूमनेकी सिफारिश पढ़ी थी। यह मुझे पसन्द आई और तभीसे घूमने जानेकी आदत मुझे पड़ गई, जो अबतक है। घूमना भी व्यायाम तो है ही और

इससे मेरा शरीर ठीक-ठीक गठीला हो गया।

व्यायामकी जगह घूमना जारी रखनेकी वजह से शरीरसे कसरत न करनेकी भूलके लिए तो मुझे सजा नहीं भोगनी पड़ी, पर दूसरी एक भूलकी सजा मैं आजतक भोग रहा हूँ। पता नहीं कहाँसे यह गलत खयाल मुझे मिल गया था कि पढ़ाईमें सुलेखकी जरूरत नहीं है। यह विलायत जानेतक बना रहा। बादमें तो मैं पछताया और शरमाया। मैंने समझा कि अक्षरोंका खराब होना अधूरी शिक्षाकी निशानी है। अतः हरेक नवयुवक या युवती मेरे इस उदाहरणसे सबक ले और समझे कि सुन्दर अक्षर शिक्षाका आवश्यक अंग हैं।

इस समयके मेरे विद्यार्थी-जीवनकी दो बातें लिखने-जैसी हैं। चौथे दरजेसे कुछ विषयोंकी शिक्षा अंग्रेजीमें दी जाती थी, पर मैं कुछ समझ ही नहीं पाता था। रेखागणितमें मैं यों भी पीछे था, और फिर अंग्रेजीमें पढ़ाये जानेके कारण और भी समझमें न आता था। शिक्षक समझाते तो अच्छा थे, पर मेरी समझमें ही कुछ न आता था। मैं बहुत बार निराश हो जाता। परिश्रम करते-करते जब रेखागणितके तेरहवें प्रमेयपर पहुँचा, तब मुझे एकाएक लगा कि रेखागणित तो सबसे आसान विषय है। जिस बातमें केवल बुद्धिका सीधा और सरल प्रयोग ही करना है, उसमें मुश्किल क्या है? उसके बादसे रेखागणित मेरे लिए सहज और मजेदार विषय हो गया।

संस्कृत मुझे रेखागणितसे भी अधिक मुश्किल मालूम पड़ी। रेखागणितमें तो रटनेकी कोई बात न थी; परन्तु संस्कृतमें मेरी दृष्टिसे अधिक काम रटनेका ही था। यह विषय भी चौथी कक्षासे शुरू होता था। छठी कक्षामें जाकर तो मेरा दिल बैठ गया। संस्कृत-शिक्षक बड़े सख्त थे। विद्यार्थियोंको बहुतेरा पढ़ा देनेका उन्हें लोभ था। संस्कृत और फारसीके दर्जेमें एक प्रकारकी होड़-सी लगी रहती थी। फारसीके मौलवी साहब नरम आदमी थे। विद्यार्थी आपसमें बातें करते कि फारसी तो बहुत सरल है,

फारसीके अध्यापक भी बड़े मुलायम हैं। विद्यार्थी जितना काम कर लाते हैं, उतनेसे ही वह निभा लेते हैं। सहज होनेकी बातसे मैं भी ललचाया और एक दिन फारसीके दर्जेमें जाकर बैठा। संस्कृत-शिक्षकको इससे दुःख हुआ और उन्होंने मुझे बुलाकर कहा—"तुम सोचो तो कि तुम किसके लड़के हो? अपनी धार्मिक भाषा न सीखोगे? अपनी कठिनाई मुझे बताओ। मेरी तो इच्छा रहती है कि सब विद्यार्थी अच्छी संस्कृत सीखें। आगे चलकर उसमें रस-ही-रस मिलेगा। तुमको इस तरह निराश न होना चाहिए। तुम फिर मेरे दर्जेमें आ जाओ।"

मैं शरमाया। शिक्षकके प्रेमकी अवहेलना न कर सका। आज मेरी आत्मा कृष्णशंकर पंड्याकी कृतज्ञ है; क्योंकि जितनी संस्कृत मैंने उस समय पढ़ी थी, यदि उतनी भी न पढ़ा होता तो आज मैं संस्कृत-शास्त्रोंका जो रसास्वादन कर पाता हूँ वह न कर पाता। बल्कि अधिक संस्कृत न पढ़ सका, इसका पछतावा होता है, क्योंकि आगे चलकर मैंने समझा कि किसी भी हिन्दू-बालकको संस्कृतके अध्ययनसे वंचित नहीं रहना चाहिए।

अब तो मैं यह मानता हूँ कि भारतवर्षके उच्च शिक्षण-क्रममें अपनी भाषाके अलावा राष्ट्र-भाषा हिन्दी, संस्कृत, फारसी, अरबी और अंग्रेजीको स्थान मिलना चाहिए। इतनी भाषाओं की गिनतीसे किसीको घबरानेकी जरूरत नहीं, यदि भाषाएँ ढंगसे सिखाई जायँ और सब विषय अंग्रेजीके द्वारा ही पढ़ने, समझनेका बोझ हमपर न हो, तो उपर्युक्त भाषाओंकी शिक्षा भार-रूप न होगी, बल्कि उनमें बड़ा रस आने लगेगा। फिर जो एक भाषा शास्त्रीय पद्धतिसे सीख लेता है उसे दूसरी भाषाओंका ज्ञान सुलभ हो जाता है।

वास्तवमें तो हिन्दी, गुजराती, संस्कृत इन्हें एक ही भाषा मानना चाहिए। यही बात फारसी और अरबीके लिए भी कह सकते हैं। फारसी यद्यपि संस्कृतके जैसी है, और अरबी हिब्रूके जैसी, तथापि दोनों भाषाएँ इस्लामके जन्मके पश्चात् फली-फूली

हैं, इसलिए दोनोंमें निकट सम्बन्ध है। उर्दूको मैंने अलग भाषा नहीं माना, क्योंकि उसके व्याकरणका समावेश हिन्दीमें होता है। उसके शब्द फारसी और अरबी ही हैं! ऊँचे दरजे की उर्दू जाननेवालेके लिए अरबी और फारसी जानना आवश्यक होता है, जैसाकि उच्चकोटिके गुजराती, हिन्दी, बंगला, मराठी जानने-वालेके लिए संस्कृत जानना जरूरी है।

४

विवाह और मांस-भक्षण

यह लिखते हुए मेरे हृदयको बड़ी व्यथा होती है कि १३ वर्ष-की उम्रमें मेरा विवाह हुआ। आज मैं अपनी आँखोंके सामने १२-१३ वर्षके बच्चोंको देखता हूँ और जब मुझे अपने विवाह-का स्मरण हो आता है तब मुझे अपने ऊपर तरस आता है, और उन बच्चोंको इस बातके लिए बधाई देनेकी इच्छा होती है कि वे मेरी-सी हालतसे बच गये। तेरह सालकी उम्रमें हुए मेरे विवाह-के समर्थनमें एक भी नैतिक दलील मुझे नहीं सूझती। यह मैं पहले कह आया हूँ कि जब मेरी शादी हुई तब मैं हाईस्कूलमें ही पढ़ता था। हमारे वर्तमान हिन्दू-समाजमें ही एक ओर पढ़ाई और दूसरी ओर शादी दोनों साथ-साथ चल सकते हैं।

एक और दुःखद प्रसंग यहाँ लिखना है और वह है मेरा एक बुरे आदमीकी सोहबतमें पड़ जाना। यह मेरे जीवनका एक दुःखद प्रकरण है। उस व्यक्तिकी मित्रता पहले मेरे मँझले भाईके साथ थी। वह उनका सहपाठी था। मैं उनके कई दोषोंको जानता था, परन्तु मैंने उसे अपना वफादार साथी मान लिया था। मेरी माताजी, बड़े भाई और पत्नी, तीनोंको यह संगत बुरी लगती थी। पत्नीकी चेतावनीकी तो मुझ-जैसा अभिमानी पति परवाह ही क्या करता? हाँ, माताकी आज्ञाका उल्लंघन करना मेरे लिए कठिन था। बड़े भाईकी बात भी टाल नहीं सकता था; परन्तु

मैं उन्हें यों समझा देता कि आप जो उसकी बुराइयाँ बताते हैं, उन्हें तो मैं जानता हूँ पर उसके गुणोंको आप नहीं जानते। मुझे वह गलत रास्ते नहीं ले जा सकता। क्योंकि मैंने उसका साथ उसे सुधारनेकी नीयतसे किया है। मेरा विश्वास है कि यदि वह सुधर जाय तो वह अच्छा आदमी साबित होगा! यह तो मैं नहीं मानता कि इन बातोंसे उन्हें संतोष हो गया, पर उन्होंने मुझपर विश्वास रखा और मुझे अपनी राह चलने दिया।

आगे चलकर मुझे यह मालूम हुआ कि मेरा यह अनुमान सही नहीं था। सुधार करनेके लिए भी मनुष्यको गहरे पानी में नहीं उतर जाना चाहिए। जिनका सुधार हमें करना हो उनके साथ मित्रता मुमकिन नहीं है। मित्रतामें अद्वैत-भावना होती है। ऐसी मित्रता संसारमें बहुत कम ही पाई जाती है। समान गुण और शीलवालोंमें ही मित्रता शोभती और निभती है। मित्रका एक-दूसरेपर असर पड़े बिना नहीं रह सकता, इस कारण मित्रता-में सुधारकी गुंजायश बहुत कम होती है। मेरा मत यह है कि अन्त-रंग मित्रता अनिष्ट है, क्योंकि मनुष्य दोषको बहुत जल्दी अपनाता है। गुण-ग्रहण करनेमें प्रयासकी जरूरत है। आत्मा और ईश्वरकी मित्रता चाहनेवालेको एकाकी रहना चाहिए या फिर सारे जगतके साथ मैत्री करना उचित है। ये विचार सही हों या गलत परन्तु इसमें शक नहीं कि मेरा अन्तरंग मित्रताका प्रयास निष्फल रहा।

जिन दिनों इस मित्रसे मेरा सम्बन्ध हुआ था, राजकोटमें 'सुधार' की लहर ऊंची उठ रही थी। इस मित्रने खबर दी कि बहुतेरे हिन्दू शिक्षक छिपे-छिपे मद्य-मांसका सेवन करते हैं। राजकोटके दूसरे प्रसिद्ध व्यक्तियोंके नाम भी उसने बताये। हाईस्कूलके कितने ही विद्यार्थियोंके नाम भी मेरे पास आये। यह देखकर मुझे तो आश्चर्य हुआ और दुःख भी। जब मैंने इसका कारण दर्याफ्त किया तो यह बताया गया कि हम मांस नहीं खाते इसीलिए हमारा राष्ट्र कमजोर है। अंग्रेज जो हमपर हुकूमत कर

रहे हैं इसका कारण उनका मांसाहार है। मैं कितना हट्टा-कट्टा और मजबूत हूँ, और कितना दौड़ सकता हूँ यह तो तुम्हें मालूम है ही। इसका कारण भी मेरा मांसाहार ही है। मांसाहारी को फोड़े-फुंसी नहीं होते और हुए तो जल्दी अच्छे हो जाते हैं। हमारे अध्यापक मांस खाते हैं, इतने-इतने मशहूर आदमी खाते हैं, सो क्या सब बिना सोचे-समझे ही? तुम्हें भी जरूर खाना चाहिए। खाकर तो देखो कि तुम्हारे बदनमें कितनी ताकत आ जाती है।

ये सारी दलीलें कोई एक दिनमें ही सामने नहीं आईं। अनेक उदाहरणोंसे सजाकर ये कई बार पेश की गईं। मँझले भाई तो फिसल चुके थे। उन्होंने भी इन बातों का समर्थन किया, अपने भाई और इन मित्रके मुकाबलेमें मैं दुर्बल था। उनका बदन अधिक गठीला और शरीर-बल मुझसे बहुत अधिक था। वे साहसी थे। इन मित्रके पराक्रमके काम मुझे मोह लेते थे। वह जितना चाहे दौड़ सकता था। चाल भी बहुत तेज थी। लंबी और ऊँची कुदानमें उन्हें कमाल हासिल था। मार सहनेकी शक्ति भी वैसी ही थी। इस शक्तिका प्रदर्शन भी वह समय-समय पर करते थे। अपने अन्दर जिस शक्ति का अभाव होता है उसे दूसरेमें देखकर मनुष्यका आश्चर्यान्वित होना स्वाभाविक है। यही मेरे विषयमें हुआ। आश्चर्यसे मोह पैदा हुआ। मुझमें दौड़नेकी शक्ति नहीं के बराबर थी। मेरे मनने कहा, "मैं भी इस मित्रके समान बलवान् हो जाऊँ तो क्या अच्छा हो?"

दूसरे, मैं बड़ा डरपोक था। चोर, भूत, साँप आदिके भयसे भयभीत बना रहता था, रातको अकेले कहीं जानेकी हिम्मत नहीं पड़ती। अँधेरेमें कहीं न जा सकता था। रोशनी के बिना सोना भी प्रायः असम्भव-सा था। इधरसे भूत आ जाय, उधरसे चोर आ जाय और कहींसे साँप निकल आवे तो? यह डर बना रहता। इसलिए रोशनीका होना तो आवश्यक था। इधर अपनी पत्नीके सामने भी, जोकि पास ही सोती और अब कुछ-कुछ युवती हो चली थी, ये भयकी बातें करते हुए संकोच होता, क्योंकि

मैं इतना जान गया था कि वह मुझसे अधिक साहसी है, इस कारण मैं उससे कुछ शरमाता भी था। उसने सांप वगैरा का डर तो कभी जाना ही नहीं था। अंधेरेमें अकेली चली जाती। मेरी इन कमजोरियोंका उस मित्रको पता था। वह तो मुझसे कहता कि मैं तो जीते साँपको भी हाथसे पकड़ लेता हूँ। चोरसे नहीं डरता, भूत-प्रेतको तो मानता ही नहीं, और इन सवका कारण मांसाहार ही है, यह उसने मेरे मनमें जमा दिया।

इन्हीं दिनों कवि नर्मदका यह कवित्त, पाठशालाओं में गाया जाता——

अंग्रेजो राज करे, देशी रहे दबाई,
देशी रहे दबाई जोने बेना शरीर भाई,
पेलो पांच हाथ पूरो. पूरो पाँचसेने ॥

इन सवका मेरे मनपर पूरा असर हुआ। मैं मानने लगा कि मांसाहार अच्छी चीज है। उससे मुझमें वल और साहस आयगा। यदि सारा देश मांसाहार करने लगे तो अंग्रेजों को हटाया जा सकता है।

मेरे माता-पिता वैष्णव थे और मैं उनका परम-भक्त था। मैं जानता था कि उन्हें मेरे मांसाहारका पता चल जाय तो वे विना मौतके तुरन्त ही प्राण छोड़ देंगे। सत्यका जाने-अनजाने सेवक तो मैं था ही। यह नहीं कह सकता कि मांसाहार करनेपर माता-पितासे झूठ बोलना पड़ेगा, यह ज्ञान मुझे उस समय नहीं था। लेकिन मेरा मन तो सुधारके रंगमें रँगा हुआ था। मांसाहार-का शौक नहीं था। स्वादके खयालसे मुझे मांसाहार नहीं आरम्भ करना था। मुझे तो वलवान और साहसी वनना था और दूसरों-को वैसा ही वननेको समझाना था और फिर अंग्रेजोंको हराकर भारतको आजाद कराना था। 'स्वराज्य' शब्द तो उस समय कानमें भी नहीं पड़ा था। इस सुधारकी धुनमें मैं अपना होश खो वैठा। और जव गुप्त रूपसे उसे करनेका प्रवन्ध हो गय-तव झूठ-मूठ ही मैंने अपने मनको समझा लिया कि अपनी बाता

को माता-पितासे छिपाना सत्यसे भटकना नहीं है।

नियत दिन आया। उस दिनकी अपनी हालतका वर्णन करना कठिन है। एक तरफ था 'सुधार' का उत्साह और जीवनमें एक महत्वपूर्ण परिवर्तन करनेकी नवीनता, और दूसरी ओर था चोर की भाँति छिपकर काम करने की शर्म। मैं नहीं कह सकता कि इनमें किसकी प्रधानता थी। हम लोग नदी किनारे एकांतकी खोजमें चले। दूर जाकर ऐसा कोना तलाश किया जहाँ कोई सहसा देख न सके, और वहां मैंने पहले-पहल मांस देखा। साथ भटियारेके यहांकी डबल रोटी थी। दो मेंसे एक भी चीज न भाई। मांस चमड़े-सा लग रहा था। खाना असंभव हो गया, मुझे कै आने लगी। खाना बीचमें ही छोड़ देना पड़ा।

मेरी वह रात बड़ी कठिनाईसे कटी। नींद किसी तरह न आती थी। सपनेमें ऐसा मालूम होता था मानो बकरा मेरे शरीरके भीतर जिंदा है और मैं··· मैं··· करता है। मैं चौंक-चौंक उठता, पछताता, पर फिर सोचता कि मांसाहार के बिना तो गति ही नहीं, यों हिम्मत नहीं हारनी है। मांसाहार एक कर्त्तव्य है और मुझे हिम्मतसे काम लेना चाहिए।

५

आँखें खुलीं

मेरे मित्र हार माननेवाले न थे। उन्होंने अब मांसको भाँति-भाँतिसे पकाकर रुचिकर बनाना तथा सजाकर रखना शुरू किया। नदी किनारेके बजाय किसी बावरचीसे सांठ-गांठ करके गुप्त रूपसे राज्यके एक भवनमें लेजाने का प्रबन्ध किया। वहाँके भोजन-भवन तथा मेज-कुर्सीके ठाठ-बाटने मुझे लुभा लिया।

इसका ठीक असर पड़ा। रोटीसे जो नफरत थी, ढीली पड़ गई। बकरे परकी दया गायब हो गई और मांसका तो नहीं, पर मांसवाले पदार्थोंका जीभको चस्का लग गया। यों एक साल बीता

होगा, और इतने समयमें पाँच-छः बार मांसाहारका मौका मिला होगा, क्योंकि बार-बार दरबार-भवनका प्रबन्ध होना कठिन था और न सदा मांसके स्वादिष्ट उत्तम पदार्थ तैयार हो सकते थे। इसके सिवा ऐसे भोजनोंपर खर्च खासा बैठता था। मेरे पास तो कानी कौड़ी भी न थी। मैं देता क्या ? इस खर्च का इंतजाम तो उस मित्रके ही जिम्मे होता था। मुझे आजतक पता नहीं कि उसने क्या इंतजाम किया था। उसका इरादा तो था मुझे मांसकी चाट लगा देना, मुझे फँसा देना। इसलिए खर्चका भार भी वह खुद उठाता था, पर उसके पास कोई कारूँका खजाना तो था ही नहीं। इस कारण ऐसे खाने तो कभी-कभी ही संभव थे।

जब-जब ऐसे खानोंमें शरीक होता तब-तब घर खाना न खाया जाता। जब माँ खानेको बुलाती तो बहाना बनाना पड़ता, 'आज खाना नहीं है। खाना पचा नहीं।' हर बहाने के वक्त मेरे दिलको चोट लगती। यह झूठ और सो भी माँके सामने। फिर यदि माँ-बाप जान जायँ कि लड़का मांसाहारी हो गया है, तब तो उनपर वज्रपात हो जायगा। ये विचार मेरे हृदयको कुतर रहे थे। इस कारण मैंने निश्चय किया कि यद्यपि माँस खाना आवश्यक है, उसका प्रचार हिन्दुस्तानमें करके भोजन-सुधार करना है, पर माता-पितासे झूठ-कपट, मांसाहारसे भी बदतर है। अतः माता-पिताके जीते-जी मांस न खाऊँगा, और तबतकके लिए मांसाहार मुल्तवी। यह निश्चय मैंने अपने मित्रको सुना दिया, और तबसे मांसाहार छूटा-सो-छूटा ही। माता-पिता ने कभी न जाना कि उनके दो पुत्र मांसाहार कर चुके हैं।

माता-पितासे झूठ-कपट न करनेके शुभ विचारसे मैंने मांसाहार तो छोड़ा, परन्तु उन मित्रकी मित्रता न छोड़ी। मैं दूसरोंको सुधारने चला था और स्वयं ही गड्ढेमें गिर गया और इस पतनका मुझे भास तक न रहा।

उसीकी सोहबतके कारण मैं व्यभिचारमें फँस गया होता। एक बार यह मित्र मुझे चकलेमें ले गये। मैं मकान में घुसा तो

जरूर, पर जिसे भगवान बचाता है वह गिरना चाहते हुए भी पवित्र बना रह सकता है। मगर मेरी आँखें इतनेसे भी न खुलीं। मुझे अबतक इस बातका भान ही न हुआ कि इस मित्रकी मित्रता अनिष्ट है। अभी और कटु अनुभव होना बाकी थे। यह तो मुझे तभी मालूम हुआ, जब मैंने उसमें वे प्रत्यक्ष दोष देखे, जिनसे मैं उसे अलिप्त मानता था।

इसी समयकी एक बात कह देना जरूरी जान पड़ता है। हम दंपतिके बीच होनेवाले मतभेद और कलहका कारण यह मित्रता भी थी। मैं जितना प्रेमी पति था उतना ही वहमी भी। मेरा वहम बढ़ानेवाली यह मित्रता थी, क्योंकि मित्रोंकी सचाईपर मुझे जरा भी अविश्वास न था। इस मित्रकी बातें मानकर मैंने अपनी धर्मपत्नीको कितने ही कष्ट दिये। उस हिंसाके लिए मैंने कभी अपनेको क्षमा नहीं किया। हिन्दू स्त्री ही ऐसे दुःखों को सहन कर सकती है, और इसीलिए मैंने स्त्रीको सदा सहन-शीलताकी मूर्त्ति माना है। नौकरपर यदि झूठा शक किया जाय तो वह नौकरी छोड़ जाता है, पुत्रपर किया जाय तो वह बापका घर छोड़कर चला जाता है, मित्रोंमें परस्पर सन्देह उत्पन्न होनेपर मित्रता टूट जाती है, पत्नीको यदि पतिपर शक हो तो उसे मन मसोसकर बैठ रहना पड़ता है, पर यदि पतिका पत्नीपर सन्देह हो जाय तो बेचारीके भाग्य ही फूटे समझने चाहिए। वह कहाँ जाय? उच्च माने जानेवाले वर्णकी हिन्दू स्त्री अदालतमें जाकर तलाक नहीं दे सकती। उसके लिए एक-तरफा न्याय रखा गया है। मेरा यह सलूक ऐसा था कि इसका दुःख मैं कभी नहीं भूल सकता।

इस सन्देहका सर्वथा नाश तो तभी हुआ, जब मुझे अहिंसाका सूक्ष्म ज्ञान हुआ या कहिये तब, जब मैंने ब्रह्मचर्यकी महिमा समझी और समझा कि पत्नी पति की दासी नहीं बल्कि सहधर्मिणी है, दोनों एक-दूसरेके सुख-दुःखके समान भागीदार हैं और जितनी स्वतंत्रता पतिको बुरा-भला करनेकी है, उतनी ही पत्नी

को भी है। इस सन्देह-कालकी जब मुझे याद आती है तब मुझे अपनी मूर्खता और विषयांध-निर्दयतापर क्रोध और मित्र-विषयक अपनी अंधतापर दया उपजती है।

६

चोरी और प्रायश्चित्त

मांसाहारके समयके और उसके पहलेके अपने कुछ दूषणों का वर्णन करना भी अभी बाकी है। वे या तो विवाहके पहलेके हैं या कुछ ही बाद के हैं।

अपने एक रिश्तेदारकी सोहबतमें मुझे सिगरेट पीनेका शौक हुआ। पैसे तो हमारे पास थे नहीं। सिगरेट पीनेके किसी फायदे या उसकी गंधके मजेसे तो हम दोनोंमेंसे कोई भी परिचित नहीं था, पर धुआं उड़ानेमें ही कुछ मजा आता था। मेरे चाचाजीको सिगरेटकी आदत थी, और उन्हें तथा औरोंको धुआं उड़ाते हुए देखकर हमें भी 'फूंक लेने' का शौक हुआ। पैसे पास न होनेके कारण हमने चाचाजीकी सिगरटोंके फेंके जूठे हिस्सोंको चुराना शुरू किया।

परन्तु ये टुकड़े हमेशा नहीं मिल पाते थे, और उनमेंसे ज्यादा धुआं भी नहीं निकल सकता था। इसलिए नौकरोंकी जेबों-में पड़े दो-चार पैसोंमेंसे एकाध हम बीच-बीचमें चुराने लगे और उमसे सिगरेट पीने लगे, पर छिपाकर रखनेकी समस्या सामने आई। इतना खयाल था कि बड़े-बूढ़ोंके सामने सिगरेट पीना संभव नहीं है। ज्यों-त्यों दो-चार पाई-पैसे चुराकर कुछ हफ्ते काम चलाया। इसी बीच सुना कि एक पौधा (उसका नाम भूल गया) होता है जिसका डंठल सिगरेटकी तरह जलता है, और वह पिया जा सकता है। हमने उसे लेकर धुआं उड़ाना शुरू किया।

पर हमें सन्तोष न हुआ। अपनी पराधीनता हमें खलने लगी। यह बड़ा कष्टदायक जान पड़ा कि बड़ोंकी आज्ञा के बिना कुछ भी

न होसके। हम बहुत परेशान हो गये और अन्तको आत्म-हत्या करनेका निश्चय किया।

परन्तु आत्म-हत्या कैसे करें ? जहर कहाँसे लावें ? हमने सुना कि धतूरेके बीजसे मृत्यु होती है। जंगलमें घूम-फिरकर बीज लाये। खानेका समय शामको रखा। केदारजी के मन्दिरकी दीपमालामें घी चढ़ाया, दर्शन किये और फिर एकान्त में चले गये, पर जहर खानेकी हिम्मत न हुई। तत्काल मृत्यु न हो तो ? मरने से लाभ क्या होगा ? पराधीनतामें ही क्यों न पड़े रहें ? ये विचार मनमें आने लगे। फिर भी दो-चार बीज खा ही डाले, पर ज्यादा खानेकी हिम्मत न हुई, दोनों मौतसे डर गये। निश्चय किया कि चलकर रामजीके मन्दिरमें दर्शन करें और शान्तिसे बैठें एवं आत्म-हत्याकी बात मनसे भुला दें।

तब मैंने समझ लिया कि आत्म-हत्या का विचार करना सरल है, पर आत्म-हत्या करना नहीं। इससे जब कोई आत्म-हत्या करनेकी धमकी देता है, तब मुझपर उसका बहुत कम असर होता है या यह भी कह सकता हूँ कि बिलकुल नहीं होता।

आत्म-हत्याके निश्चयका एक परिणाम यह हुआ कि हमारी जूठी सिगरेट पीनेकी, नौकरोंके पैसे चुरानेकी और उससे सिगरेट खरीदकर पीनेकी आदत ही जाती रही। बड़ा होनेपर मुझे कभी सिगरेट पीने की इच्छा तक नहीं हुई, और मैं सदा इस आदतको जंगली, हानिकारक और गन्दी मानता आया हूँ। अब-तक मैं यह समझ ही न पाया कि सिगरेट-बीड़ीका इतना जबर्दस्त शौक दुनियामें क्यों है ? रेलके जिस डिब्बेमें बीड़ी-सिगरेटका धुआँ उड़ता है, वहाँ बैठना मेरे लिए कठिन हो जाता है और उसके धुएँसे मेरा दम घुटने लगता है।

सिगरेटके टुकड़े और उसके लिए नौकरोंके पैसे चुरानेके अपराधके सिवा चोरीका एक और जो अपराध मुझसे बन पड़ा, उसे मैं अधिक गम्भीर मानता हूँ। सिगरेटके अपराधके दिनों तो मेरी उम्र १२-१३ वर्षकी रही होगी, शायद इससे भी कम रही

हो। दूसरी चोरीके समय पन्द्रह सालकी रही होगी। यह चोरी थी मेरे मांसाहारी भाईके सोनेके कड़ेसे सोना चुरानेकी। उन्होंने २५) रु० के लगभग कर्ज कर लिया था। हम दोनों भाई इसे चुकानेके चक्करमें थे। मेरे भाईके हाथमें सोनेका एक ठोस कड़ा था। उसमेंसे तोला-भर काट लेना कठिन न था।

कड़ा कटा और कर्ज पट गया, पर मेरे लिए यह बात असह्य हो गई। आगेसे चोरी न करनेका मैंने निश्चय किया। यह भी सोचा कि पिताजीके सामने इसे कबूलना चाहिए, पर जबान खुलनी कठिन थी। यह डर तो नहीं था कि पिताजी मुझे पीटेंगे। क्योंकि नहीं याद पड़ता कि उन्होंने हम भाइयोंमेंसे किसी को कभी पीटा हो, पर यह डर जरूर था कि वह खुद बड़े दुःखी होंगे और शायद अपना सिर भी धुन डालें ! पर सोचा कि यह खतरा उठाकर भी अपना दोष स्वीकार करना ही उचित है। ऐसा लगा कि इसके बिना शुद्धि नहीं होगी।

अन्तमें मैंने पत्र लिखकर अपना दोष स्वीकार करते हुए माफी माँगनेका निश्चय किया। मैंने पत्र लिखकर अपने हाथसे उन्हें दिया। पत्रमें सब दोष स्वीकार किया था और दंड माँगा था। विनय की कि मेरे अपराधके लिए अपनेको कष्टमें न डालें और प्रतिज्ञा की थी कि भविष्यमें ऐसा अपराध फिर न करूँगा।

मैंने काँपते हाथों यह पत्र पिताजी के हाथ में दिया। मैं उनके तख्तके सामने बैठ गया। इन दिनों उन्हें भगंदर रोग उभरा हुआ था, इसलिए वह बिस्तर पर ही पड़े रहते थे। खाटके बदले तख्त काममें लाते थे।

उन्होंने पत्र पढ़ा। आँखोंसे मोतीकी बूंदें टपकीं, पत्र भीग गया। तनिक देरके लिए उन्होंने आँखें मूंदीं और पत्र फाड़ डाला, और पत्र पढ़ने को ही बैठे हुए थे सो फिर लेट गये।

मैं भी रोया। पिताजीकी पीड़ाका मैंने अनुभव किया। यदि मैं चितेरा होता तो आज भी वह चित्र हुबहू खींचकर रख देता। मेरी आँखोंके सामने आज भी वह दृश्य नाच रहा है।

इन मुक्ता-बिन्दुओंके प्रेम-बाणने मुझे बींध दिया। मैं शुद्ध होगया। इस प्रेमको तो वही जान सकता है, जिसे उसका अनुभव हुआ है।

राम-बाण वाग्यां रे होय ते जाणे।

मेरे लिए यह अहिंसाका पदार्थ-पाठ था। उस समय तो मुझे इसमें पितृ-प्रेमका ही अनुभव हुआ था, पर आज मैं इसे शुद्ध अहिंसाका नाम दे सकता हूँ। ऐसी अहिंसाके व्यापक रूप धारण करने पर उससे कौन अछूता रह सकता है? ऐसी व्यापक अहिंसा की शक्तिका अनुमान करना शक्तिसे परे है।

ऐसी शांतिमय क्षमा पिताजीके स्वभावके प्रतिकूल थी। मैंने सोचा था कि वह गुस्सा होंगे, फटकारेंगे, शायद अपना सिर भी धुन लें, पर उन्होंने तो असीम शांति का परिचय दिया। मैं समझता हूँ कि वह दोषकी शुद्ध हृदयसे की गई स्वीकृतिका परिणाम था। जो मनुष्य अधिकारी व्यक्तिके सामने स्वेच्छापूर्वक अपने दोष शुद्ध हृदयसे कह देता है और फिर कभी न करने की प्रतिज्ञा करता है, वह मानो शुद्धतम प्रायश्चित्त करता है। मैं जानता हूँ कि मेरे इस इकरारसे पिताजी मेरे संबंधमें निर्भय हो गये और उनका प्रेम मेरे प्रति और भी बढ़ गया।

७

धर्मकी झलक

राजकोटमें मुझे सब सम्प्रदायोंके प्रति समानभाव रखनेकी शिक्षा अनायास मिली। मैंने हिन्दू-धर्मके प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रति आदर-भाव रखनेकी तालीम पाई, क्योंकि माता-पिता वैष्णव-मन्दिर जाते, शिवालय जाते तथा राम-मन्दिर भी जाते और हम भाइयोंको भी ले जाते अथवा भेज देते थे।

इसके सिवा पिताजीके पास जैन-धर्माचार्योंमेंसे कोई-न-कोई सदैव आते रहते। पिताजी भिक्षा देकर उनका आदर-सत्कार

भी करते। वे पिताजीके साथ धर्म तथा व्यवहार-चर्चा किया करते। इसके सिवा पिताजीके मुसलमान तथा पारसी मित्र भी थे। बहुत बार ये अपने-अपने धर्मकी बात सुनाया करते और पिताजी आदर व प्रेमके साथ उनकी बातें सुनते। ऐसी चर्चाके समय में उनका शुश्रूषक होने के कारण प्रायः ही उपस्थित रहता था। इस सारे वातावरणके प्रभावसे मेरे मनमें सब धर्मोंके प्रति समभाव पैदा हुआ।

इस प्रकार मेरे मनमें अन्य धर्मोंके प्रति समभाव आया। यह नहीं कह सकता कि उस समय ईश्वरके प्रति मेरे मनमें कुछ आस्था थी, लेकिन एक बातने मेरे मनमें जड़ जमा ली। वह यह कि संसार नीतिपर स्थिर है, नीति-मात्रका समावेश सत्यमें है। पर सत्यकी खोज अभी बाकी है। दिन-दिन सत्यकी महिमा मेरी दृष्टिके सामने बढ़ती गई, सत्यकी व्याख्या विस्तार पाती गई और अब भी पाती जा रही है।

उस समय नीति-विषयक एक छप्पयने मेरे हृदयमें घर कर लिया। अपकारका बदला अपकार नहीं, वरन् उपकार ही होना चाहिए, यह वस्तु जीवन-सूत्र बन गई। उसने मेरे मनपर अपनी सत्ता चलानी शुरू कर दी। अपकारीका भला चाहना और करना इसका मैं अनुरागी बन गया। उसके अगणित प्रयोग किये। वह चमत्कारी छप्पय यह है—

पाणी आपने पाय, भलुं भोजन तो दीजे;
आवी नमाबे शीश, दंडवत कोड़े कीजे।
आपण घासे दाम, काम महोरेनुं करीये;
आप उगारे प्राण, ते तणा दुःखमां मरीये।
गुण केडे तो गुण दशगुणो, मन वाचा कर्मे करी;
अवगुण केडे जे गुण करे, ते जगमां जीत्यो सही।[1]

---

१. इसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—

जो हमको जलपान करावे, उसको भोजन दीजे;
अपने को जो शीश नवावे, उसे दंडवत कीजे।

८

तीन प्रतिज्ञाएँ

मैंने १८८७ ईस्वीमें मैट्रिककी परीक्षा पास की। उस समय बम्बई और अहमदाबाद दो परीक्षा केन्द्र थे। देशकी और हमारे कुटुम्ब की गरीबीका यह हाल था कि मेरी स्थितिके काठिया-वाड़ीको नजदीकी और सस्ते अहमदावादको पसन्द करना स्वाभाविक था। राजकोटसे अहमदाबाद मैंने यह पहली बार यात्रा की।

वड़ोंकी यह इच्छा थी कि पास होनेपर कालेजमें आगे पढ़ूँ। कालेज बम्बईमें भी था और भावनगरमें भी; लेकिन कमखर्ची-के खयालसे भावनगरके शामलदास कालेजमें पढ़नेका निश्चय हुआ। वहां सबकुछ मुझे मुश्किल लगने लगा। अध्यापकोंके व्याख्यानोंमें मुझे रस न आता, न वे समझमें ही आते। उसमें अध्यापकोंका दोष न था, बल्कि मेरी पढ़ाई ही कच्ची थी। उस समयके शामलदास कालेजके अध्यापक तो प्रथम श्रेणीके समझे जाते थे। पहला टर्म (सत्र) पूरा करके घर आया।

हमारे कुटुम्बके पुराने मित्र और सलाहकार एक विद्वान् व्यवहार-कुशल ब्राह्मण—मावजी दवे थे। उन्होंने हमें सलाह दी—"अब समय बदल गया है। तुम भाइयोंमेंसे यदि कोई कबा-गांधीकी गद्दी लेना चाहे तो वह विना पढ़ाई के सम्भव नहीं है। मेरी राय है कि मोहनदासको आप इसी साल विलायत भेज दें।

पैसे जो दे हमें उसे मोहर दे देना;
और बचावे प्राण दुःख में उसके मरना।
गुणके बदले दस गुना, जो मन वाचा कर्मसे;
अवगुण करते गुण करे, जग जीता इस धर्मसे।

वहाँ तीन साल रहकर बैरिस्टर बन जायगा।" और फिर मेरी ओर देखकर पूछा—

"क्या तुम्हें विलायत जाना पसन्द है या यहीं पढ़ते रहना ?"

'जो भावे वही वैद बतावे !' मैं कालेजकी कठिनाइयोंसे यों ही तंग आगया था। मैंने कहा—"विलायत भेजें तो बहुत ही अच्छा।" पर बड़े भाई उलझनमें पड़े। पैसोंका क्या प्रबन्ध हो ? फिर इस उम्रमें इतनी दूर कैसे भेज दें ?

माताजी को कुछ सूझ न पड़ा। दूर भेजनेकी बात ही उन्हें नहीं रुची। उन्होंने विलायत-जीवनके संबंधमें पूछ-ताछ शुरू की। कोई कहता था नवयुवक विलायत जाकर बिगड़ जाते हैं। कोई कहता था, मांस खाते हैं। कोई कहता, वहाँ शराबके बिना काम ही नहीं चलता। माताने यह सब मुझे सुनाया। मैंने समझाया कि "तुम मुझपर विश्वास रखो, मैं विश्वास-घात नहीं करूँगा। मैं सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि मैं इन तीनोंसे बचूंगा। और अगर ऐसी जोखिम होती तो जोशीजी क्यों जानेकी सलाह देते ?"

माँ बोली—मुझे तो विश्वास है, पर दूर देश में तेरा कैसे क्या होगा ? मेरी तो अकल काम नहीं करती। मैं बेचरजी स्वामी से पूछूंगी।,,

बेचरजी स्वामी मोढ़ बनिये थे, जो जैन साधु हो गये थे। जोशीजी की तरह वह भी हमारे सलाहकार थे। उन्होंने मेरी मदद की। उन्होंने कहा—"मैं इससे तीन चीजोंके बारेमें प्रतिज्ञा करा लूंगा। फिर उसे जाने देनेमें कोई हर्ज नहीं।" तदनुसार मैंने मांस, मदिरा और स्त्रीसे दूर रहनेको प्रतिज्ञा की। तब माताने जानेकी आज्ञा दे दी।

मेरे विलायत जानेके उपलक्ष्यमें हाईस्कूलमें विद्यार्थियोंकी सभा हुई। राजकोटका एक युवक विलायत जा रहा है, इस पर सबको आश्चर्य हो रहा था। जवाबमें कुछ लिखकर ले गया था। पर मैं उसे मुश्किलसे पढ़ सका। इतना मुझे याद है कि सिर

चकरा रहा था और बदन कांप रहा था।

९

पहला अनुभव

४ सितम्बर सन् १८८८ को मैंने बम्बई बंदर छोड़ा। जहाज में मुझे सामुद्रिक कष्ट तो कुछ भी न उठाना पड़ा। पर ज्यों-ज्यों दिन जाते, मैं परेशान हो रहा था। स्टुअर्ट (जहाजके भोजन परिचारक) के साथ बोलते हुए झेंपता, क्योंकि अंग्रेजीमें बातचीत करनेकी आदत न थी। मेरे एक साथी मजूमदारको छोड़कर, जो राजकोटके वकील थे और बैरिस्टर होने विलायत जा रहे थे, बाकी सब यात्री अंग्रेज थे। उनके सामने बोलते न बनता था। वे मुझसे बोलनेकी चेष्टा करते, तो उनकी बात मेरी समझमें न आती और यदि समझ भी लेता तो जवाब देना नहीं सूझता। हर वाक्य बोलनेके पहले मनमें जमाना पड़ता था। छुरी-कांटेसे खाना न आता था और यह पूछनेका साहस भी न होता कि इसमें बिना मांसकी चीजें क्या-क्या हैं? इस कारण मैं भोजनकी मेज पर तो कभी गया ही नहीं। केबिन—कोठरी—में ही खा लेता था। अपने साथ जो मिठाइयाँ वगैरा ले गया था, उन्हींपर गुजर किया। मजूमदारको तो कोई झिझक न थी। वह सबके साथ हिल-मिल गये। डेकपर भी जहाँ जी चाहे घूमते-फिरते। मैं तो दिन-भर केबिनमें पड़ा रहता। डेकपर जब लोगोंकी भीड़ कम देखता, तब थोड़ी देरके लिए जाकर वहाँ बैठ जाता। मजूमदार मुझे समझाते कि सबके साथ मिला-जुला करो। कहते कि वकीलको तो बातूनी होना चाहिए। वकीलकी हैसियतसे वह अपना अनुभव भी सुनाते। कहते कि "अंग्रेजी हमारी मातृभाषा नहीं है। इसलिए बोलनेमें भूलें होंगी ही, इसलिए बोलनेमें सकुचाना नहीं चाहिए।" परन्तु मैं अपनी भीरुता नहीं छोड़ पाता था।

मुझपर तरस खाकर एक भले अंग्रेजने मुझसे बातचीत करना शुरू किया। मैं क्या खाता हूँ, कौन हूं, कहां जा रहा हूँ, क्यों किसीके साथ बातचीत नहीं करता, इत्यादि सवाल पूछे। मुझे खानेमें साथ आनेको कहा। मांस न खानेके मेरे आग्रहकी बात सुनकर वह हँसे और मुझपर रहम खाकर बोले—"यहां तो (पोर्ट सईद पहुँचनेके पहले) सब ठीकठाक है, परन्तु बिस्केकी खाड़ीमें पहुँचनेपर तुम्हें अपने विचार बदलने पड़ेंगे। इंग्लैंडमें तो इतनी ठंड पड़ती है कि मांसके बिना काम चल ही नहीं सकता।"

मैंने कहा—"मैंने तो सुना है कि वहां लोग बिना मांसाहारके रह सकते हैं।"

वह बोले—"यह झूठ है। जान-पहचानवालोंमें कोई निरामिषभोजी नहीं है। मैं शराब पीनेके लिए तुमसे नहीं कहता, पर मैं समझता हूं मांस तो तुम्हें अवश्य खाना चाहिए।"

मैंने कहा—"आपकी सलाहके लिए मैं आपका आभारी हूं, पर मांसाहार न करनेकी अपनी मातासे प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। यदि उसके बिना निर्वाह हो ही न सका तो मैं वापस हिन्दुस्तान लौट जाऊँगा, पर मांस तो हरगिज़ नहीं खाऊँगा।"

बिस्केकी खाड़ी आई। वहाँ भी मुझे न तो माँसकी आवश्यकता मालूम हुई, न मदिराकी ही।

दुःख-सुख सहते यात्रा पूरी करके साउदेम्पटन बंदरपर आ पहुँचे। मुझे याद पड़ता है उस दिन शनिवार था। मैं जहाज पर काले कपड़े पहनता था। मित्रोंने मेरे लिए सफेद फलालैन का सूट भी बनवा दिया था। विलायत में उतरनेपर उसे पहननेका निश्चय किया—यह समझकर कि सफेद कपड़े ज्यादा अच्छे लगेंगे, यह सूट पहनकर मैं जहाजसे उतरा। सितम्बरके अन्तिम दिन थे। ऐसे कपड़ों में मैंने अकेले अपनेको ही वहाँ पाया। मेरे सन्दूक और उनकी कुंजियां ग्रिडले कम्पनीका एजेंट ले गया था। जैसा और लोग करते हैं वैसा मुझे भी करना चाहिए, यह

समझकर मैंने अपनी तालियाँ भी उन्हें दे दी थीं।

मेरे पास चार परिचय-पत्र थे—एक डाक्टर प्राणजीवन मेहताके नाम, दूसरा दलपतराय शुक्लाके नाम, तीसरा प्रिंस रणजीतसिंहजीके नाम और चौथा दादाभाई नौरोजीके नाम। किसीने सलाह दी थी कि विक्टोरिया होटलमें ठहरना ठीक होगा। इसलिए मजूमदार और मैं वहाँ गए। मैं तो अपनी सफेद कपड़ोंकी शर्म से ही दबा जा रहा था। फिर होटलमें जाकर खबर लगी कि कल रविवार होनेके कारण सोमवार तक ग्रिंडलेके यहां से सामान नहीं आवेगा। इससे मैं बड़ी परेशानी में पड़ गया।

मैंने साउदेम्पटनसे ही डाक्टर मेहता को तार दे दिया था। वह सात-आठ बजे आये। उन्होंने प्रेम-पूर्ण विनोद किया। बातों-बातोंमें मैंने अनजाने उनकी रेशमी रोयेंदार टोपी देखनेके लिए उठा ली और उस पर उल्टा हाथ फेरने लगा। टोपीके रोयें सीधे हो गए। डाक्टर मेहताने देखा। तुरन्त ही मुझे रोका, पर अपराध तो हो चुका था। उनके रोकनेका इतना ही नतीजा हुआ कि भविष्यमें ऐसा अपराध न हो।

यहींसे यूरोपियन रीति-रिवाजकी शिक्षाका श्रीगणेश हुआ। डाक्टर मेहता हँस-हँसकर बहुतेरी बात समझाते थे। किसीकी चीज नहीं छूनी चाहिए, किसीसे जानपहचान होते ही जो बातें हिन्दुस्तानमें सहज ही पूछी जा सकती हैं, वे यहाँ नहीं पूछनी चाहिए। बातें करते हुए जोर से नहीं बोला जाता। हिन्दुस्तानमें साहबोंके साथ बातें करते हुए 'सर' कहनेका जो रिवाज है, वह अनावश्यक है। यहाँ 'सर' तो नौकर अपने मालिकको अथवा अपने अफसरों को कहता है, आदि। फिर उन्होंने होटलमें रहनेके खर्चपर भी बातें कीं और बताया कि किसी कुटुम्बके साथ रहना ठीक होगा। इस सम्बन्धमें अधिक विचार सोमवार तकके लिए स्थगित रहा।

होटल तो हम दोनोंको, साँसत-घर-सा लगा। यह होटल था भी महँगा। माल्टासे एक सिंधी सज्जन सवार हुए थे। उनसे

मजूमदार की अच्छी पट गई थी। यह सिंधी यात्री लंदनके अच्छे जानकार थे। उन्होंने हमारे लिए किरायेपर दो कमरे ले लेनेका भार उठाया। हमने स्वीकृति दी और सोमवार को सामान मिलते ही होटलका बिल चुकाकर उन कमरोंमें चले गये। मुझे याद है कि होटलका बिल लगभग तीन पौंड मेरे हिस्से में आया था। मैं तो भौंचक्का रह गया। तीन पौंड देकर भी भूखा ही रहा। वहाँका कोई खाना न रुचा। एक चीज ली, नहीं रुची, दूसरी ली। पर पैसे तो दोनोंके ही चुकाने पड़े। मैं अभीतक प्रायः बम्बईसे लाये अपने खानेके सामान पर ही दिन काट रहा था।

उस कमरेमें भी मैं बड़ा परेशान रहा। देश बहुत याद आता था। माताका प्रेम आँखोंके सामने नाचता था। रात होते ही रोना शुरू होता। घर की अनेक प्रकार की बातें याद आतीं। उनमें नींद भला कहाँ आ पाती। मैं अपनी यह दुःख-गाथा किसीसे कह भी तो नहीं सकता था। कहनेसे लाभ भी क्या था? मैं खुद जानता था कि मुझे काहेसे संतोष मिलेगा। लोग निराले, रहन-सहन निराली, मकान भी निराले और घरोंमें रहनेका तौर-तरीका भी निराला। फिर यह भी अच्छी तरह नहीं मालूम कि क्या बोलनेसे अथवा क्या करने से यहाँके शिष्टाचारका भंग होता है। इसके अलावा खान-पानके परहेज अलग और जिन चीजोंको मैं खा सकता था, वे रूखी-सूखी मालूम होती थीं। इस कारण मेरी हालत साँप-छछूंदर-जैसी हो गई। इधर विलायतमें अच्छा नहीं लगता था, उधर देश भी वापस नहीं लौट सकता था। विलायत आया तो था तीन साल बिताने का इरादा रखकर ही।

१०

प्रतिज्ञाने रक्षा की

डाक्टर मेहता सोमवारको विक्टोरिया होटलमें मुझसे मिलने गये। वहाँ उन्हें हमारे नये मकान का पता लगा। वह वहाँ

आये। हमारा कमरा आदि देखा और गर्दन हिलाई—"यह जगह कामकी नहीं। इस देशमें आकर महज पुस्तकें पढ़नेकी अपेक्षा यहांका अनुभव प्राप्त करना ज्यादा जरूरी है। इसके लिए किसी कुटुम्बमें रहनेकी जरूरत है, पर फिलहाल कुछ बातें सीखनेके लिए बतौर उम्मीदवारके... यहाँ रहनेकी बात मैंने ठीक की है। मैं तुम्हें उनके यहाँ ले चलूंगा।"

मैंने सधन्यवाद उनकी बात मान ली और डाक्टर मेहताके साथ उन मित्रके यहाँ गया। उन्होंने मेरी खातिर-तवाजामें किसी बातकी कसर न रखी। मुझे भाई की तरह रक्खा, अंग्रेजी रीति-रिवाज सिखाये। अंग्रेजीमें बातचीत करनेकी आदत भी उन्होंने ही डलवाई।

परन्तु मेरे भोजनका सवाल बड़ा विकट हो गया। बिना नमक, मिर्च और मसालेका साग भाता नहीं था। मालकिन बेचारी मेरेलिए पकाती भी क्या? सबेरे जईका दलिया बनाती, उससे तो मेरा पेट भर जाता, पर दोपहरको और शामको हमेशा भूखा रहना। मित्र मांसाहार करने को रोज समझाते। मैं प्रतिज्ञा-को बाधा बताकर चुप हो रहना। वे रोज दलीलें दिया करते। सो दुःखोंको हरनेवाली एक दवा, 'नाहीं' मेरे पास थी। मित्र ज्यों-ज्यों मुझे समझाते त्यों-त्यों मेरी दृढ़ता बढ़ती जाती। रोज मैं ईश्वरसे रक्षाकी प्रार्थना करता और रोज वह पूरी होती। मैं यह तो नहीं जानता था कि ईश्वर क्या चीज है, पर श्रद्धा अपना काम कर रही थी।

एक दिन उन मित्रोंने मेरे सामने बेंथमकी पुस्तक पढ़नी शुरू की। उपयोगितावादका विषय पढ़ा। मैं घबराया। भाषा ऊँची थी। मैं बड़ी कठिनतासे समझता था। उन्होंने उसका विवेचन किया। मैंने उत्तर दिया—"क्षमा चाहता हूँ। मैं इतनी बातें नहीं समझ सकता। मैं मांस खानेकी उपयोगिता स्वीकार करता हूँ। परन्तु प्रतिज्ञाके बन्धनको मैं नहीं तोड़ सकता। इसके संबंधमें वाद-विवाद भी नहीं करना चाहता। मैं जानता हूँ कि तर्कमें भी

आपसे नहीं जीत सकता। पर मुझे मूर्ख समझकर, या हठी समझकर ही इस बारेमें क्षमा कीजिये। आपके प्रेमका मैं कायल हूँ। आपका उद्देश्य समझता हूँ और आपको अपना परम हितेच्छु मानता हूँ। यह भी देखता हूं कि आपको मेरी हालतपर दुःख होता है, पर मैं विवश हूँ। प्रतिज्ञा नहीं टूट सकती।

मित्र देखते रह गये। उन्होंने पुस्तक बन्द कर दी। "बस, अब मैं दलील नहीं करूँगा"—कहकर चुप रहे। मैं खुश हुआ। इसके बाद उन्होंने बहस करना छोड़ दिया।

पर मेरे विषयमें उनकी चिन्ता दूर न हुई। वह सिगरेट पीते थे, शराब पीते थे, पर इनमेंसे एकके लिए भी मुझे नहीं कहा। उलटे उसे न करनेकी हिदायत दी। पर उनकी सारी चिंता यह थी कि मांसाहारके बिना मैं कमजोर होजाऊँगा और इंग्लैंडमें आजादीसे न रह सकूंगा।

यों महीना-भर मैं नौसिखिया बनकर रहा।

११

सभ्य बननेके प्रयत्नमें

अबतक मेरे विषयमें मित्रकी चिन्ता दूर नहीं हुई थी। उन्होंने प्रेमवश यह मान लिया था, कि मांसाहार न करनेसे मैं कमजोर हो जाऊँगा, इतना ही नहीं बल्कि, भोंदू रह जाऊंगा। क्योंकि मांसाहार न करनेसे अंग्रेज-समाजमें मिल-जुल न सकूंगा। मेरे अन्नाहार संबंधी पुस्तकें पढ़नेका उनको पता था। उन्हें शंका हुई कि इन विषयोंको पढ़कर मैं सनक जाऊँगा और प्रयोगमें मेरा जन्म व्यर्थ जायगा। मैं कर्त्तव्य-च्युत हो जाऊँगा और एक पढ़ा-लिखा मूर्ख ही रहूँगा।

पर अब मेरे मन में यह आया कि मुझे उनकी परेशानी दूर कर देनी चाहिए। मैंने निश्चय किया कि मैं अपनेको जंगली न कहलाने दूंगा, सभ्योंके लक्षण सीखूंगा और दूसरी तरहसे समाजमें सम्मिलित होनेके योग्य बनकर अपने अन्नाहार की विचित्रता

पर पर्दा डालूंगा। इसीलिए अब मैंने अंग्रेजी 'सभ्यता' सीखनेका मार्ग पकड़ा।

मेरे कपड़े थे तो विलायती, परन्तु बम्बई-काटके थे। वे उच्च अंग्रेज-समाजमें न फबेंगे इस विचारसे 'आर्मी और नेवी स्टोर'में दूसरे कपड़े बनवाये। उन्नीस शिलिंग की 'चिम' की हैट (टोपी) ली। इससे भी सन्तोष न हुआ तो बांड स्ट्रीटमें, जहां शौकीन लोगोंके कपड़े सिलते थे, दस पौंडको दियासलाई दिखाकर शामको पहननेके कपड़े बनवाये। सीधे और शाहदिल बड़े भाईसे खासतौर पर दोनों जेबोंमें लटकाई जानेवाली असली सोनेकी चैन मँगवाई। वह भी आई। तैयार बँधी टाई पहननेका रिवाज न था। इसलिए टाई बाँधनेकी कला सीखी। देशमें तो आइना सिर्फ हजामतके दिन ही देखनेका काम पड़ता था, पर यहां तो बड़े आइनेके सामने खड़े रहकर टाई ठीक-ठीक बाँधनेमें और बालकी पटियां पारने और माँग काढ़नेमें दसेक मिनट बरबाद होते। फिर मेरे बाल मुलायम न थे। उन्हें ठीक-ठीक सँवारे रखनेके लिए ब्रुशके साथ नित्य लड़ाई होती, और टोपी पहनते और उतारते समय हाथ तो मानो मांग सँवारनेके लिए सिरपर पहुँचते ही रहते। इसके सिवा जब कभी सभ्य समाजमें बैठता तो माँगपर हाथ फेरकर बालोंको दुरुस्त रखनेकी सभ्य क्रिया होती रहती थी।

परन्तु इतनी टीप-टाप ही बस न थी। अकेली सभ्य पोशाकसे थोड़े ही कोई सभ्य हो जाता है। इसलिए सभ्यताकी और भी कितनी ही ऊपरी बातें मालूम कर ली थीं। अब उनमें कुछ प्रवीणता प्राप्त करनी थी। सभ्य पुरुषको नाचना जानना चाहिए, फ्रेंच भाषा अच्छी आनी चाहिए; क्योंकि फ्रेंच एक तो इंग्लैंडके पड़ोसी फ्रांस की भाषा थी, दूसरे सारे यूरोपकी राष्ट्रभाषा भी थी। फिर मुझे यूरोप भ्रमण करनेकी भी इच्छा थी। इसके सिवा सभ्य पुरुषको लच्छेदार व्याख्यान देना भी आना चाहिए। मैंने नाचना सीख लेनेका निश्चय किया और क्लासमें भरती हुआ।

एक तिमाहीके तीनेक पौंड फीसके दिये। कोई तीन सप्ताहमें पाँच-छः पाठ पढ़े होंगे, ठीक ताल पर पाँव नहीं पड़ते थे। पियानो बजता था, पर यह न जान पड़ता था कि यह क्या कह रहा है। 'एक, दो, तीन' का क्रम चलता, पर इनके बीचका अन्तर तो उस बाजे-से ही मालूम होता था, जो मेरे लिए अगम्य था। तो फिर? फिर तो बाबाजीकी बिल्लीवाली बात! चूहोंको भगाने के लिए बिल्ली और बिल्लीके लिए गाय, होते-होते बाबाजीका परिवार बढ़ा। सोचा, वायोलिन बजाना सीख लूँ तो सुर और तालका ज्ञान हो जायगा। तीन पौंड वायोलिन खरीदनेमें बिगाड़े और उसे सीखनेके लिए भी कुछ दक्षिणा दी। भाषण-कला सीखनेके लिए तीसरे उस्तादका घर खोजा। उसे भी एक गिन्नीकी भेंट तो चढ़ानी ही पड़ी। उसकी प्रेरणा से बेलका 'स्टैंडर्ड एलोक्युशनिस्ट' खरीदा। पिटके भाषणमें श्रीगणेश हुआ।

पर इन बेलसाहबने मेरे कानमें 'बेल' (घंटी) बजाई। मैं जागा।

"मुझे कहाँ इंग्लैंड में जिन्दगी बितानी है? लच्छेदार भाषण देना सीखकर भी क्या करूँगा? नाच-नाचकर सभ्य मैं कैसे बनूंगा? वायोलिन तो देशमें भी सीखा जा सकता है। मैं विद्यार्थी हूँ। मुझे तो विद्या-धनके संग्रह में लगना चाहिए मुझे अपने धंधेसे संबंध रखनेवाली तैयारी करनी चाहिए। अपने सदाचारसे मैं सभ्य समझा जा सकूँ तो अलबत्ता ठीक है, नहीं तो मुझे यह लोभ छोड़ देना चाहिए।"

इस धुनमें उपर्युक्त आशयका पत्र मैंने भाषण-शिक्षकको लिख भेजा। उससे मैंने दो या तीन पाठही लिये थे। नृत्य शिक्षिकाको भी वैसा ही पत्र लिख भेजा। वायोलिन-शिक्षिकाके यहाँ वायोलिन लेकर पहुँचा और उससे कह आया कि जो दाम मिले लेकर बेच दो। उससे कुछ मित्रता-सी हो गई थी, इसलिए उससे मैंने मोहका भी जिक्र कर दिया—नाच इत्यादि जंजालसे छूट जानेकी बात उसे पसंद आई।

सभ्य बननेकी मेरी यह सनक तो कोई तीन महीने चली होगी, किन्तु कपड़ोंकी तड़क-भड़क बरसों तक चलती रही। पर अब मैं विद्यार्थी बन गया था।

१२
सादगीकी ओर

कोइ यह न समझे कि नाच आदिके मेरे प्रयोग मेरी स्वच्छंदताके युगको सूचित करते हैं। पाठकोंको ध्यानसे देखनेपर उसमें कुछ विचारांश भी मिलेगा। परन्तु इस मोह-कालमें भी कुछ अंशतक मैं सावधान था। पाई-पाईका हिसाब रखता। खर्चका अन्दाज निश्चित था कि महीनेमें पंद्रह पौंडसे अधिक खर्च न हो। बसका किराया और डाक-खर्च भी हमेशा लिखता और सोनेसे पहले हमेशा अपनी रोकड़ मिला लेता था। यह आदत अंत तक कायम रही और मैं समझता हूँ कि इसी कारण सार्वजनिक जीवनमें अपने हाथोंसे लाखों रुपयोंका उलट-फेर करने में किफायतशारीसे काम ले पाया और जितने आंदोलन मेरी देख-रेखमें चले हैं, उनमें मुझे कर्ज नहीं करना पड़ा, बल्कि हरेकमें कुछ-न-कुछ बचत ही रही है।

मैंने खर्च आधा कर डालनेका विचार किया। हिसाबको गौरसे देखा तो गाड़ी-भाड़ेका खर्च काफी बैठता था। फिर एक कुटुंबके साथ रहने के कारण कुछ-न-कुछ खर्च प्रति सप्ताह लग ही जाता। इसलिए कुटुंबके साथ रहना छोड़कर अलग कमरा लेकर रहनेका निश्चय किया और यह भी तय किया कि काम के अनुसार तथा अनुभव प्राप्त करनेके लिए अलग-अलग मुहल्लोंमें घर लेना चाहिए। घर ऐसी जगह पसन्द किया कि जहांसे कामके स्थानपर आधे घंटेमें पैदल चलकर पहुँच सकें और गाड़ी-भाड़ा-बच जाय। इससे पहले जानेके लिए एक तो गाड़ी-भाड़ा खर्चना पड़ता और दूसरे घूमने जानेके लिए अलग वक्त निकालना पड़ता। अब कामपर जानेमें ही घुमाईका काम भी पूरा होने लगा। इस

तजवीजकी बदौलत आठ-दस मील तो मैं सहज ही में घूम-फिर डालता। विशेषतः इसी एक आदतके कारण मैं विलायतमें शायद ही बीमार पड़ा होऊँगा और शरीर ठीक कस गया था। कुटुंबके साथ रहना छोड़कर दो कमरे किराये पर लिये, एक सोनेके लिए और एक बैठकका। यह परिवर्तनका दूसरा दौर था। तीसरा परिवर्तन अभी आगे आनेवाला है।

इस तरह आधा खर्च बचा। पर समय ? मैं जानता था कि बैरिस्टरीकी परीक्षाके लिए बहुत पढ़नेकी जरूरत नहीं होती। इसलिए मैं बेफिकर था। पर मेरी कच्ची अंग्रेजी मुझे खला करती थी। इसलिए मैंने सोचा, बैरिस्टर होनेके अतिरिक्त मुझे और अध्ययन भी करना चाहिए। आक्सफोर्ड और केम्ब्रिजके कोर्सका पता लगाया। कितने ही मित्रोंसे मिला। देखा कि वहाँ जानेसे खर्च बहुत पड़ेगा और पाठ्य-क्रम भी बहुत लम्बा था। मैं तीन वर्ष-से ज्यादा वहाँ रह नहीं सकता था। एक मित्र ने कहा, "यदि तुम्हें कोई कठिन ही परीक्षा देनी हो, तो लंदनका मैट्रिक्युलेशन पास कर लो। उसमें परिश्रम काफी करना पड़ेगा और सामान्य ज्ञान बढ़ जायगा, खर्चा बिलकुल न बढ़ेगा।" यह राय मुझे पसंद आई पर परीक्षाकी विषय-सूची देखकर मैं घबराया। उसमें लैटिन और एक दूसरी भाषा अनिवार्य थी। लैटिन कैसी होगी ? पर उस मित्रने कहा—"वकील के लिए लैटिन का बड़ा उपयोग होता है। लैटिन जाननेवालेको कानूनी पुस्तकें समझनेमें सहूलियत होती है। फिर रोमन लॉकी परीक्षामें एक प्रश्न-पत्र तो केवल लैटिन भाषाका ही होता है और लैटिन जान लेनेसे अंग्रेजी भाषापर अधिकार बढ़ता है।" मुझपर इन दलीलोंका असर हुआ। मैंने निश्चय किया और एक मैट्रिक्युलेशन क्लासमें भर्ती हुआ। परीक्षा हर छठे महीने होती। मुझे मुश्किल से पाँच महीने का समय था। यह मेरे बूते के बाहरका काम था। नतीजा यह हुआ कि कहाँ तो मैं सभ्य बनने चला था और कहाँ अत्यन्त उद्यमी विद्यार्थी बन गया। टाइम-टेबुल बनाया। एक-एक मिनट बचाया।

परन्तु मेरी बुद्धि और शक्ति ऐसी न थी कि दूसरे विषयोंके उपरान्त लैटिन और फ्रेंचको भी सम्भाल सकता। इम्तहानमें बैठकर लैटिनमें फेल हो गया। इससे दुःख तो हुआ, पर हिम्मत न हारा। लैटिनमें मजा आने लगा था। सोचा, फ्रेंच ज्यादा मजबूत हो जायगी और विज्ञान में नया विषय ले लूंगा। रसायन-शास्त्र, जिसमें मैं देखता हूं कि खूब मन लगना चाहिए, प्रयोगोंके अभावमें मुझे अच्छा ही न लगा। देशमें यह विषय मेरे पाठ्य-क्रममें रहा ही था। इसलिए लंदन-मैट्रिकके लिए भी पहली बार इसीको पसंद किया। इस बार 'प्रकाश और ऊष्मा' (Light and Heat) को लिया। यह विषय आसान समझा जाता था और मुझे भी आसान ही मालूम हुआ।

फिर परीक्षा देनेकी तैयारीके साथ ही रहन-सहनमें और भी सादगी लानेकी कोशिश शुरू की। मुझे लगा कि अभी मेरे जीवनमें इतनी सादगी नहीं आई है, जो कुटुम्बकी गरीबीके अनुकूल हो। भाईसाहबकी तंगदस्ती और उदारताका खयाल आते ही मुझे बड़ा कष्ट होता। दस-पन्द्रह पौंड मासिक खर्च करनेवालोंको तो छात्र-वृत्तियां मिलती थीं। अपनेसे अधिक सादगीसे रहनेवालोंको मैं देखता था। ऐसे गरीब विद्यार्थी काफी तादादमें मेरे संपर्कमें आते थे। एक विद्यार्थी लंदनके गरीब मुहल्लेमें प्रति सप्ताह दो शिलिंग देकर एक कोठरीमें रहता था और लोकार्टकी सस्ती कोकोकी दूकानमें दो पेनीका कोको और रोटी खाकर गुजारा करता था। उसकी बराबरी करनेकी तो मेरी हिम्मत न हुई, पर इतना जरूर समझा कि मैं दोके बजाय एक कमरेमें ही गुजर कर सकता हूं और आधी रसोई हाथसे भी पका सकता हूं। ऐसा करनेसे चार या पांच पौंड मासिकमें रह सकता था। सादा रहन-सहन संबंधी पुस्तकें भी पढ़ी थीं। दो कमरे छोड़कर आठ शिलिंग प्रति सप्ताहपर एक कमरा लिया था। एक स्टोव खरीदा और सवेरेका खाना हाथसे पकाने लगा। बीस मिनटसे अधिक पकानेमें नहीं लगता था। जौका दलिया और कोकोके लिए

पानी उबालनेमें कितना समय लगता ! दोपहरको बाहर कहीं खा लेता और शामको फिर कोको बनाकर रोटीके साथ लेता। यों एक या सवा शिलिंगमें रोज खाना-पीना सीख गया। यह मेरा समय अधिक-से-अधिक पढ़ाईका था। जीवन सादा हो जानेसे समय ज्यादा बचने लगा। दूसरी बार इम्तहानमें बैठने पर पास हो गया।

पाठक यह न समझें कि सादगीसे जीवनमें नीरसता आगइ हो। उलटा इन परिवर्तनोंसे मेरी आंतरिक और बाहरी स्थितिमें एकता आई। कौटुंबिक स्थितिके साथ मेरे रहन-सहनका मेल सध गया। जीवन अधिक सारयुक्त होगया; आध्यात्मिक आनन्दकी सीमा न रही।

१३
प्रलोभनसे बचा

जैसे-जैसे मैं जीवनके विषय में गहरा विचार करता गया, वैसे-वैसे बाहरी और भीतरी आचारमें परिवर्तन करनेकी आवश्यकता मालूम होती गई। जिस गतिसे रहन-सहनमें तथा खर्चमें परिवर्तन किया, उसी गतिसे अथवा और भी वेगसे भोजनमें फेरफार करना आरंभ किया। अन्नाहार-विषयक अंग्रेजी पुस्तकें मैंने देखीं। विलायतमें ऐसे विचार रखनेवालोंकी एक संस्था थी। उसकी ओरसे एक साप्ताहिक पत्र भी निकलता था। मैं उसका ग्राहक बना और संस्थाका सदस्य भी। थोड़े ही समयमें मैं उसकी कार्यकारिणी-कमेटीमें ले लिया गया। यहां मेरा उन लोगोंसे परिचय हुआ, जो अन्नाहारियोंके स्तंभ माने जाते हैं। अब मैं अपने भोजन-संबंधी प्रयोगों में पड़ा।

घरसे मंगाई हुई मिठाई, मसालेका व्यवहार बंद कर दिया। मनका झुकाव दूसरी ओर गया। मसालोंका शौक जाता रहा, चाय और काफी छोड़ दी और ज्यादातर मैं रोटी, कोको और उबली हुई सब्जीपर ही गुजर करने लगा। मेरे इन प्रयोगोंसे

मुझे यह अनुभव हुआ कि स्वादका असली स्थान जीभ नहीं बल्कि मन है।

मैंने भिन्न-भिन्न धर्मोंका परिचय प्राप्त करनेकी कोशिश की। इस बीच दो थियोसॉफिस्ट मित्रोंसे मुलाकात हुई। उन्होंने मुझे गीता पढ़नेकी प्रेरणा दी। उन दिनों वे एडविन आर्नोल्ड-कृत गीताके अंग्रेजी-अनुवाद को पढ़ रहे थे, पर मुझे उन्होंने अपने साथ संस्कृतमें गीता पढनेके लिए कहा। मैं शरमाया, क्योंकि मैंने तो गीता संस्कृतमें तो क्या, गुजराती में भी नहीं पढ़ी थी। यह बात झेंपते हुए मुझे उनसे कहनी पड़ी, पर साथ ही यह भी कहा कि 'मैं आपके साथ पढ़ने के लिए तैयार हूँ। यों तो मेरा संस्कृत-ज्ञान नहींके बराबर है। फिर भी मैं इतना समझ लेता हूँ कि अनुवादमें कहीं गड़बड़ हो तो वह बता सकूं।' इस तरह इन भाइयोंके साथ मेरा गीता-पाठ आरंभ हुआ। दूसरे अध्यायके अंतिम श्लोकोंमें इन

> ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
> संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
> क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
> स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥[1]

श्लोकोंका गहरा असर मेरे मनपर हुआ। कानोंमें उनकी ध्वनि दिन-रात गूंजा करती। तब मुझे मालूम हुआ कि भगवद्गीता तो अमूल्य ग्रंथ है। यह धारणा दिन-दिन अधिक दृढ़ ही होती गई— और अब तो तत्त्वज्ञानके लिए मैं उसे सर्वोत्तम ग्रंथ मानता हूं। निराशाके समय इस ग्रंथने मेरी अपार सहायता की है।

इसी अर्सेमें एक अन्नाहारी-छात्रालयमें मांचेस्टरके एक ईसाई सज्जनसे भेंट हुई। उनकी प्रेरणा से मैंने बाइबिल पढ़ी,

---

[1] विषयका चिंतन करनेसे, पहले तो उसके साथ संग पैदा होता है, और संगसे कामकी उत्पत्ति होती है। कामनाके पीछे-पीछे क्रोध आता है। फिर क्रोधसे संमोह, संमोहसे स्मृति-भ्रम, स्मृति-भ्रमसे बुद्धिका नाश होता है। और अंतमें पुरुष खुद ही नष्ट हो जाता है।

परन्तु 'ओल्ड टेस्टामेंट' तो पढ़ ही न सका। वह मुझे कुछ जँचा नहीं। पर जब 'न्यू टेस्टामेंट' शुरू किया, तब ईसाके गिरि-प्रवचन का मनपर बहुत जबर्दस्त असर हुआ, उसने दिलमें घर कर लिया। बुद्धिने गीताजीके साथ उसकी तुलना की। "जो तेरा कुरता माँगे उसे तू अँगरखा दे डाल। जो तेरे दाहिने गालपर थप्पड़ मारे उसके आगे बायाँ गाल कर दे।" यह पढ़कर मुझे अपार आनंद हुआ। शामल भट्टका वह छप्पय भी याद आया, जो पीछे दिया है।

यद्यपि मैंने हिन्दू-धर्मका भी मामूली परिचय प्राप्त किया, फिर भी खतरों और संकटोंसे बचानेके लिए यह काफी न था।

विलायतके मेरे आखिरी वर्ष, अर्थात् १८९० में पोर्टस्मथमें अन्नाहारियोंका एक सम्मेलन हुआ। उसमें मुझे तथा एक और भारतीय मित्रको निमंत्रण मिला था। हम दोनों एक बहनके यहाँ, जिसके बारेमें स्वागत समितिको कुछ पता नहीं था, ठहराये गये। वह एक बदनाम घर था। रातको सभासे हम घर लौटे। भोजनके बाद ताश खेलने बैठे। विलायतमें भले घरोंमें गृहिणी भी मेहमानोंके साथ इस प्रकार ताश खेला करती हैं। ताश खेलते समय आमतौर पर लोग निर्दोष मजाक करते हैं, पर यहाँ अश्लील विनोद शुरू हुआ।

मैं नहीं जानता था कि मेरे साथी उसमें निपुण हैं। मुझे इस विनोदमें रस आने लगा। धीरे-धीरे मैं भी उसमें शामिल हुआ। विनोदके वाणीसे क्रियामें परिणत होनेकी नौबत आगई। ताश एक ओर रखनेका अवसर आगया, पर मेरे साथीके हृदयमें भगवान पैठे। वह बोले, "तुम और यह पाप? यह तुम्हारा काम नहीं। भागो यहाँ से।"

मैं जागा; लज्जित हुआ। हृदयमें इस मित्रका उपकार माना, माताकी प्रतिज्ञा याद आई। वहाँसे भागा। काँपता हुआ अपने कमरेमें पहुँचा।

उस समय मैं 'धर्म क्या है? ईश्वर क्या चीज है? वह हमारे

अंदर किस तरह काम करता है ?' ये बातें नहीं जानता था। पर लौकिक अर्थमें मैं यही समझा कि ईश्वरने मुझे बचाया और जीवनके विविध क्षेत्रोंमें मुझे ऐसा ही अनुभव हुआ। सच पूछिए तो मुझे यह कहते हुए बड़ा आनंद आता है कि मुझे अनेक संकटों के अवसरपर ईश्वरने बरबस बचा लिया है। जब चारों ओरसे आशाएँ छोड़ देनेका अवसर आजाता है, हाथ-पैर ढीले पड़ने लगते हैं, तब कहीं-न-कहींसे अचानक सहायता आ पहुँचती है। स्तुति, उपासना, प्रार्थना, ये अंधविश्वास नहीं; बल्कि उतनी ही अथवा उससे भी अधिक सच बातें हैं, जितना कि हम खाते हैं, पीते हैं, बैठते हैं, आदि सच हैं। बल्कि यों कहनेमें भी अत्युचित नहीं कि यह एकमात्र सत्य है ; दूसरी सब बातें असत्य हैं , मिथ्या हैं।

१४

बैरिस्टर हुआ

इस बीच मेरा अध्ययन जारी रहा। नौ महीनेके अथक परिश्रमके बाद १० जून, १८९१ को मैं बैरिस्टर हुआ, और बारह जूनको हिन्दुस्तान लौट आनेके लिए रवाना हुआ; परन्तु मेरी निराशा और भीतिका कोई ठिकाना न था। कानून मैंने पढ़ तो लिया, परन्तु मेरा मन कहता था कि अभीतक मुझे कानूनका वह ज्ञान नहीं हुआ है कि वकालत कर सकूं।

जून-जुलाईमें हिंद-महासागर तूफानी रहता है। अदनसे ही समुद्रका ऐसा हाल था। सब लोग बीमार थे, अकेला मैं ही मजेमें था। तूफान देखनेके लिए डेकपर जाया करता और भीग भी जाता। सुबह नाश्तेके समय यात्रियोंमें हम एक-ही-दो आदमी टेबल पर नजर आते। हमें जईके दलिये की रकाबीको गोदमें रखकर खाना पड़ता था; तूफानके कारण जहाज इतना हिलता था कि दलिया गोदमें ढुलक पड़ता।

यह बाहरी तूफान मेरे अंदरके तूफानका चिह्न-मात्र था, परन्तु बाहरी तूफानमें मैं जिस प्रकार अपने को शांत रख सकता था,

वही बात आंतरिक तूफानके संबंधमें भी थी।

जब हम बम्बई बन्दर पर पहुंचे तो मेरे बड़े भाई वहाँ मौजूद थे। माताजी के स्वर्गवास के बारेमें मैं बिलकुल बेखबर था। घर पहुँचने पर मुझे यह समाचार सुनाया और स्नान कराया गया। यह खबर मुझे विलायतमें दी जा सकती थी, पर बड़े भाईने मेरे बम्बई पहुंचने तक मुझे खबर न पहुँचानेका ही निश्चय किया—इस विचारसे कि मुझे कम-से-कम आघात पहुँचे। पिताजीकी मृत्युसे अधिक आघात मुझे इस समाचारसे पहुँचा। मेरे कितने ही मनसूबे मिट्टीमें मिल गये, पर मुझे याद है कि इस समाचारको सुनकर मैं रोया नहीं। आँसूभी नहीं गिराये और इस तरह काम-काज जारी रखा, मानों माताजीकी मृत्यु हुई ही न हो।

कुछ समय तक तो मैं राजकोट रहा, लेकिन मित्रोंने मुझे यह सलाह दी कि मैं कुछ दिन बम्बई जाकर हाईकोर्टका विशेष अनुभव प्राप्त करूं और हिन्दुस्तानी कानूनका अध्ययन करूं, साथ ही हो सका तो वकालत करनेका भी प्रयत्न करूं। मैं बम्बई गया। पर वहाँ चार-पाँच महीनेसे अधिक न रह सका, क्योंकि खर्च बढ़ता जाता था और आमदनी कुछ भी न थी। इसलिए मैं बम्बईसे निराश होकर वापस राजकोट आया। अलग दफ्तर खोला। कुछ सिलसिला चला। अर्जियाँ लिखनेका काम मिलने लगा और हर महीने लगभग तीन सौ रुपये की आमदनी होने लगी। इन अर्जियोंके मिलनेका कारण मेरी योग्यता नहीं बल्कि जरिया था। बड़े भाई साहबके साथी वकीलकी वकालत अच्छी चलती थी। जो बहुत जरूरी महत्त्वपूर्ण अर्जियां आतीं अथवा जिन्हें हम महत्त्वपूर्ण समझते, वे तो बैरिस्टरके पास जातीं, मुझे तो सिर्फ उनके गरीब मवक्किलोंकी अर्जियाँ मिलतीं।

१५

दक्षिण अफ्रीकामें

इस बीच काठियावाड़के अन्दरूनी झगड़ोंका भी मुझे कुछ

अनुभव हो गया। उससे मेरा जी ऊब उठा।

इसी समय भाई साहबके पास पोरबन्दरकी 'दादा अब्दुल्ला एंड कम्पनी' नामकी एक मेमन दूकानका सन्देश आया कि दक्षिण अफ्रीका में हमारा बड़ा कारोबार है। तैयब हाजीखान मुहम्मद पर हमारा चालीस हजार पौंडका बड़ा मुकदमा बहुत दिनोंसे चल रहा है। यदि आप अपने भाईको वहां भेजदें तो हमें भी मदद मिलेगी और उसकी भी कुछ मदद हो जायगी।

इस दूकानके एक हिस्सेदारने—यदि मैं एक साल काम कर दूं तो—आने-जानेका पहले दरजेका किराया और भोजन-खर्चके अलावा १०५ पौंड देनेका वायदा किया। मैं राजी हो गया और अप्रैल १८९३ में हिन्दुस्तानसे अफ्रीकाके लिए रवाना हो गया।

नेटालका बन्दर यों तो डरबन कहलाता है, पर नेटालको भी बन्दर कहते हैं। मुझे बन्दर पर लिवाने स्वयं अब्दुल्ला सेठ आये थे? नेटालके जो लोग जहाज पर अपने मित्रोंको लिवाने आये थे, उनके रंग-ढंगसे मैं समझ गया कि यहाँ हिन्दुस्तानियोंका आदर नहीं है। अब्दुल्ला सेठकी जान-पहचानके लोग उनके साथ जैसा बर्ताव करते थे उसमें एक प्रकारका हलकापन दिखाई पड़ता था और उससे मेरे दिलको चोट पहुँची थी, पर अब्दुल्ला सेठ तो इस अपमान के आदी हो गये थे। मुझपर जिसकी नजर पड़ती वह आश्चर्यसे देखने लगता, क्योंकि मेरा पहनावा ऐसा था कि मैं दूसरे भारतवासियोंसे कुछ जुदा मालूम होता था। उस समय मैं फ्राककोट और बंगाली पगड़ी पहने था।

घर पहुँचा। अब्दुल्ला सेठ के कमरेके पासका कमरा मुझे दिया गया। अभी हमारी पूरी जान-पहचान नहीं हुई थी। अपने भाईकी लिखी चिट्ठी उन्होंने पढ़ी। वह कुछ असमंजसमें पड़ गये। उन्होंने समझ लिया कि भाईने तो यह सफेद हाथी घर बँधवा दिया। मेरा साहबी ठाठ-बाट उन्हें बड़ा खर्चीला मालूम हुआ, क्योंकि मेरे लिए उनके पास उस समय कोई काम तो था नहीं; मुकदमा चल रहा था ट्रांसवाल में। सो तुरन्त ही मुझे

वहाँ भेजकर क्या करते ? फिर यह भी एक सवाल था कि मेरी योग्यता और ईमानदारीका विश्वास भी कहाँतक किया जाय ? और प्रिटोरियामें वह खुद मेरे साथ रह नहीं सकते थे। प्रतिवादी प्रिटोरियामें रहते थे। कहीं उनका असर मुझपर होने लगे तो ? और दूसरे काम भी उनके कर्मचारी मुझसे अच्छा कर सकते थे। फिर कर्मचारीसे यदि भूल-चूक हो जाय तो उसे कुछ कहा-सुना भी जा सकता है, मुझे कुछ कहनेसे भी रहे। काम या तो क्लर्कका था या मुकदमेका—तीसरा कोई था ही नहीं। ऐसी हालतमें यदि मुकदमेका काम मुझे नहीं सौंपते हैं तो घर बैठे मेरा खर्च उठाना पड़ता था।

अब्दुल्ला सेठ यों तो पढ़े-लिखे कम थे, पर अनुभव-ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा था। उनकी बुद्धि तेज थी, और वह खुद भी इस बातको जानते थे। अंग्रेजीका इतना मुहावरा था कि बोल-चालका काम चला लेते थे। बैंकमें मैनेजरोंसे बातें कर लेते, यूरोपियन व्यापारियोंसे सौदा कर लेते, वकीलोंको अपना मामला समझा देते। हिन्दुस्तानियोंमें उनका काफी मान था। उनकी दुकान उस समय हिन्दुस्तानियोंमें सबसे बड़ी नहीं तो बड़ी दूकानोंमें अवश्य थी।

दूसरे या तीसरे दिन वह मुझे डरबनकी अदालत दिखाने ले गये। वहाँ कई लोगोंसे परिचय कराया। अदालतमें अपने वकीलके पास मुझे बिठाया। मजिस्ट्रेट मेरी ओर देखता रहा। बोला—"अपनी पगड़ी उतार लो।" मैंने इन्कार किया और अदालतसे बाहर चला आया।

मेरे भाग्यमें तो यहाँ भी लड़ाई लिखी थी।

पगड़ी उतरवानेका रहस्य मुझे अब्दुल्ला सेठने समझाया। मुसलमानी पोशाक पहननेवाला अपनी मुसलमानी पगड़ी वहाँ पहन सकता है। दूसरे भारतवासियोंको अदालतमें जाते हुए अपनी पगड़ी उतार लेनी चाहिए।

ऐसी हालतमें पगड़ी पहननेका प्रश्न विकट हो गया। पगड़ी

उतार देनेका अर्थ था, अपमान सहन करना। सो मैंने यह तरकीब निकाली कि हिन्दुस्तानी पगड़ीके बजाय अंग्रेजी टोप पहना जाय जिससे उसे उतारने में अपमानका भी सवाल न रहे और मैं इस झगड़ेसे भी बच जाऊँ।

पर अब्दुल्ला सेठको यह बात पसंद न आई। उन्होंने कहा—"यदि आप इस समय ऐसा करेंगे तो उल्टा अर्थ होगा। जो लोग देशी पगड़ी पहने रहना चाहते होंगे, उनकी स्थिति विषम हो जायगी। फिर आपके सिरपर अपने ही देशकी पगड़ी शोभा देती है। आप यदि अंग्रेजी टोपी लगावेंगे तो लोग 'वेटर' समझेंगे।"

इन वचनोंमें व्यावहारिकता थी, देशाभिमान था और कुछ संकुचितता भी थी। पर सब मिलकर अब्दुल्ला सेटकी बात मुझे अच्छी लगी। मैंने पगड़ीवाली घटनापर अखबारोंमें लिखा और पगड़ीका तथा अपने पक्षका समर्थन किया। अखबारोंमें उसपर खूब चर्चा चली। 'अनवेल्कम विजिटर'—अनिमंत्रित अतिथि—के नामसे मेरा नाम अखबारों में आया। तीन-चार दिनके अन्दर अनायास ही दक्षिण अफ्रीकामें मेरी प्रसिद्धि हो गई। किसीने मेरे पक्षका समर्थन किया, किसी ने मेरी उद्दंडताकी निन्दा।

अब्दुल्ला सेठको मेरे लिए काम तलाशनेमें ज्यादा वक्त न लगा। उनके मुकदमेके लिए मेरा प्रिटोरियामें रहना जरूरी था।

सातवें या आठवे दिन में डरबनसे रवाना हुआ। मेरे लिए पहले दरजे का टिकट लिया गया। सोनेके लिए वहाँ पाँच शिलिंग-का एक अलहदा टिकट लेना पड़ता था। अब्दुल्ला सेठने आग्रहके साथ कहा कि सोनेका टिकट ले लो, पर मैंने कुछ तो हठमें, कुछ मदमें और कुछ पैसे बचानेके लोभसे इन्कार कर दिया।

अब्दुल्ला सेठ ने मुझे सावधान किया—"देखो यह मुल्क और है, हिन्दुस्तान नहीं। खुदाकी मेहरबानी है, आप पैसेका खयाल न करें। अपने आरामका सब इन्तजाम कर लेना।"

मैंने उन्हें धन्यवाद दिया और कहा कि आप मेरी चिन्ता न कीजिए। नेटालकी राजधानी मेरित्सवर्ग में ट्रेन रातके कोई नौ बजे पहुँची। यहां सोनेवालोंको बिछौने दिये जाते थे। रेलवेके नौकरने आकर कहा—"आप बिछौना चाहते हैं ?"

मैंने कहा—"मेरे पास बिछौना है।"

वह चला गया। इस बीच एक यात्री आया। उसने मेरी ओर देखा। मुझे हिन्दुस्तानी देखकर वह चकराया। बाहर गया और एक-दो कर्मचारियों को लेकर आया। किसीने मुझसे कुछ न कहा, अन्तमें एक अफसर आया, उसने कहा—"उतरो, तुमको दूसरे डिब्बेमें जाना होगा।"

मैंने कहा—"पर मेरे पास पहले दर्जेका टिकट है।"

उसने उत्तर दिया—"कोई बात नहीं। मैं तुमसे कहता हूं, तुम्हें आखिरी डिब्बेमें बैठना होगा।"

"मैं कहता हूं कि डरबनसे इसी डिब्बेमें बिठाया गया हूं और इसीमें जाना चाहता हूँ।"

अफसर बोला—"यह नहीं हो सकता, तुम्हें उतरना होगा, नहीं तो सिपाही आकर उतार देगा।"

मैंने कहा—"तो ठीक है। सिपाही आकर भले ही मुझे उतारे, मैं अपने-आप न उतरूँगा।"

सिपाही आया। उसने हाथ पकड़ा और धक्का मारकर मुझे नीचे गिरा दिया। मेरा सामान नीचे उतार लिया गया। मैंने दूसरे डिब्बेमें जानेसे इन्कार किया। गाड़ी चल दी। मैं वेटिंग-रूममें जा बैठा। हैंडबेग अपने साथ रखा। दूसरे सामानको मैंने हाथ न लगाया। रेलवालोंने सामान कहीं रखवा दिया।

जाड़ेका मौसम था। दक्षिण अफ्रीकामें ऊँची जगहोंपर बड़े जोरका जाड़ा पड़ता है। मेरित्सवर्ग ऊँचाईपर था—इससे खूब जाड़ा लगा। मेरा ओवरकोट मेरे सामानमें रह गया था। सामान माँगनेकी हिम्मत न पड़ी। कहीं फिर बेइज्जती न हो। जाड़ेमें सिकुड़ता और ठिठुरता रहा। कमरेमें रोशनी न थी। आधी

रातके समय एक मुसाफिर आया। ऐसा जान पड़ा मानो वह कुछ बात करना चाहता हो, पर मेरे मनकी हालत ऐसी न थी कि मैं बातें करता।

मैं सोचने लगा, "मेरा कर्त्तव्य क्या है? मुझे अपने हक़ोंके लिए लड़ना चाहिए या वापस लौट जाना चाहिए? या जो अपमान हो रहा है, उसे सहन करके प्रिटोरिया पहुँचूं और मुकदमेका काम खत्म करके देश चला जाऊँ। मुकदमेको अधूरा छोड़कर भाग जाना तो कायरता होगी। मुझपर जो कुछ बीत रही है वह तो रागद्वेषरूपी महारोगके ऊपरी लक्षण हैं। यदि इस महारोगको उखाड़ फेंकनेका सामर्थ्य अपने अन्दर हो तो उसका उपयोग करना चाहिए। उसके लिए जो कुछ कष्ट और दुःख आ पड़े, सहना चाहिए। इन अन्यायोंका विरोध उसी हदतक करना चाहिए जिस हदतक उसका संबंध रागद्वेष दूर करनेसे हो।

ऐसा संकल्प करके जिस तरह भी हो दूसरी गाड़ीसे आगे जानेका निश्चय किया।

सुबह मैंने जनरल मैनेजरको तार द्वारा एक लम्बी शिकायत लिख भेजी। दादा अब्दुल्लाको भी समाचार भेजे। अब्दुल्ला सेठ तुरन्त जनरल मैनेजरसे मिले। जनरल मैनेजरने अपने आदमियों-का पक्ष तो लिया, पर कहा कि स्टेशन-मास्टरको लिख दिया है कि गांधीको सकुशल अपने मुकामपर पहुँचा दो। अब्दुल्ला सेठने मेरित्सबर्गके हिन्दुस्तानी व्यापारियोंको भी मुझसे मिलने तथा मेरा प्रबन्ध करनेके लिए तार दिया तथा दूसरे स्टेशनोंपर भी ऐसे ही तार दे दिये। इससे व्यापारी लोग स्टेशनपर मुझसे मिलने आये। उन्होंने अपने ऊपर होनेवाले अन्यायोंका मुझसे जिक्र किया और कहा कि आपपर जो कुछ बीता है वह कोई नई बात नहीं। पहले-दूसरे दरजेमें जो हिन्दुस्तानी सफर करते हैं उन्हें क्या रेल-कर्मचारी और क्या मुसाफिर दोनों सताते हैं। सारा दिन इन्हीं बातोंके सुननेमें गया। रात हुई, गाड़ी आई। मेरे लिए जगह तैयार थी। डरबनमें सोनेके लिए जिस टिकटको लेनेसे इन्कार

किया था, वही मेरित्सबर्गमें लिया। ट्रेन मुझे चार्ल्सटाउन ले चली। आगे मुझे घोड़ागाड़ी में तो और भी कष्टों का सामना करना पड़ा और अन्तको में जोहान्सबर्ग पहुँचा और वहांसे फिर रेलसे प्रिटोरिया गया।

१६

सेवाका श्रीगणेश

१८९३ में दक्षिण अफ्रीका-निवासी हिन्दुस्तानियोंकी स्थितिका पूरा-पूरा ज्ञान मुझे हो गया था; लेकिन प्रिटोरियामें हिन्दुस्तानियोंसे इस विषयमें कभी-कभी बातचीत कर लेनेके अलावा मैंने कोई प्रत्यक्ष कार्य अबतक नहीं किया था। मैंने देखा कि एक ओर मुकदमे की कार्रवाई और दूसरी ओर दक्षिणी अफ्रीकाके भारतवासियोंके कष्टोंको दूर करनेका प्रयत्न, दोनों बातें एक साथ नहीं की जा सकतीं। मैं समझ गया था कि दोनों काम एक साथ करनेके मानी दोनोंको नुकसान पहुँचाना होगा। यह १८९४ की बात है। जिस मुकदमेके लिए मैं दक्षिण अफ्रीका आया, वह अच्छी तरह तय हो गया। इसलिए मैं डरबन लौट आया और वहांसे हिन्दुस्तान जानेकी तैयारी करने लगा। जब मुझे दादा अब्दुल्लाके यहांसे विदाई दी जा रही थी, उसी समय किसीने 'नेटाल मर्क्युरी' अखबारकी एक प्रति मुझे लाकर दी। उसमें नेटाल धारासभाकी कार्रवाई की संक्षिप्त रिपोर्ट थी, जिसमें कुछ सतरें भारतीय मताधिकारके सिलसिलेमें थीं। नेटाल-सरकार एक ऐसा बिल पेश करना चाहती थी, जिससे हिन्दुस्तानियोंके मताधिकार छिनते थे। योंही उन्हें अधिकार बहुत कम थे, फिर भी जो कुछ थे उन्हें छीन लेनेकी यह शुरूआत थी। यह देखकर मैंने अपना हिन्दुस्तान जाना स्थगित कर दिया। उसी रातको बैठकर मैंने धारासभामें पेश करनेके लिए एक दरख्वास्त तैयार की। सरकारसे भी तार द्वारा प्रार्थना की कि

वह धारासभाकी कार्रवाई जल्द शुरू न करे। तुरन्त सेठ अब्दुल्लाके सभापतित्वमें एक कमेटी बनाई गई और उन्हींके नामसे यह तार भेजा गया। इसका फल यह हुआ कि दो दिनके लिए बिलकी कार्रवाई रोक दी गई। दक्षिण अफ्रीकाकी धारासभाको हिन्दुस्तानियोंकी तरफसे इस प्रकार अर्जी भेजनेका यह पहला ही मौका था। इसका कुछ असर तो जरूर हुआ, मगर बिलका पास होना उससे नहीं रुक सका। ऐसे आन्दोलन करनेका दक्षिण अफ्रीकाके प्रवासी भारतीयोंका यह पहला ही अवसर था। इससे सारे समाजमें उत्साहकी एक नई लहर फैल गई। हर रोज सभाएं होतीं और लोग अधिक संख्यामें आते। जरूरतसे ज्यादा पैसा भी इकट्ठा हो गया। कितने ही लोग स्वेच्छासे बिना किसी मिहनतानेके काम करनेको तैयार हो गए। वे लिखनेका काम करते, घूम-घूमकर लोगोंसे दस्तखत कराते, और भी अन्य कई काम करते। ऐसे भी लोग थे जो खुद काम भी करते थे और पैसा भी देते थे। पुराने गिरमिटिया कुलियोंकी जो संतान वहां थी, उन्होंने बड़ी तत्परतासे इस आन्दोलनमें योग दिया। वे अंग्रेजी जानते थे, वे सुन्दर अक्षर लिखते थे। दिन-रात इन्होंने नकलें करनेका तथा दूसरा काम बड़े उत्साहसे किया। एक महीनेके अन्दर ही लार्ड रिपनके नाम, जो उस समय उपनिवेश-मंत्री थे, दस हजार दस्तखतोंके साथ दरख्वास्त भेज दी गई। इस प्रकार मेरे सामनेका तात्कालिक काम तो पूरा हो गया।

तब मैंने फिर हिन्दुस्तान जानेकी इजाजत चाही, लेकिन आन्दोलनमें हिन्दुस्तानियों की इतनी ज्यादा दिलचस्पी होगई थी कि उन्होंने मुझसे न जाने का आग्रह किया। उन्होंने कहा—"खुद आप ही ने तो हमें यह बताया कि यह तो सरकारका पहला कदम है, इसको न रोका गया तो अन्तमें हमारा अस्तित्व ही मिट जायगा। कौन जाने उपनिवेश-मंत्री हमारे मेमोरियल (प्रार्थना-पत्र) का क्या जवाब देंगे। हमारे उत्साहको तो आपने देख ही लिया है। हम काम करने और रुपया खर्च करनेके लिए तैयार हैं,

मगर बिना किसी राह बतानेवालेके यह सब किया-कराया चौपट हो जायगा। इसलिए हमारा तो यही खयाल है कि इस समय आपका फर्ज यही है कि आप यहाँ ठहरें।" उनकी यह दलील मुझे जँची और मुझे लगा कि हिन्दुस्तानियोंके हितोंकी रक्षाके लिए कोई एक स्थायी संगठन बना लिया जाय तो अच्छा हो। इस कारण मैं फिर रुक गया और इस प्रकार मई १८९४ के लगभग 'नेटाल इंडियन कांग्रेस' का जन्म हुआ। ईश्वरने मेरे दक्षिण-अफ्रीकाके जीवनकी बुनियाद डाली तथा भारतीयोंके आत्म-सम्मानकी लड़ाईका बीज बोया।

यहांके कामका इतिहास जाननेके लिए पाठकोंको 'दक्षिण-अफ्रीकाका सत्याग्रह'[1] पढ़ने की सिफारिश करता हूँ। उससे पता चलेगा कि हमें किन-किन कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा, सरकारी अधिकारियोंने कैसे-कैसे हमले कांग्रेसपर किये और वह उनसे कैसे बाल-बाल बच गई। लेकिन एक बातका उल्लेख यहाँ जरूर करना चाहता हूँ, वह यह कि अतिशयोक्ति करनेकी आदतसे भारतीय समाजको बचानेकी पूरी-पूरी कोशिश की गई। उन्हें खुद अपने दोषोंकी तरफ भी ध्यान दिलानेका पूरा यत्न किया गया। यूरोपियन लोगोंकी दलीलोंमें जो बात अच्छी और उचित मालूम पड़ती, उसकी कद्र की जाती थी। कई ऐसे अवसर आने जिनमें यूरोपियन लोगोंके साथ बराबरीके नाते और इज्जतके साथ सहयोग करनेका मौका आता तो सच्चे दिल से ऐसा किया जाता। हमारे आन्दोलनकी पूरी खबरें अखबारोंको भेजी जातीं और जब कभी अखबारोंमें हिन्दुस्तानियों पर हमला होता तो उन अखबारोंको उनके जवाब भी भेजे जाते।

१. यह पुस्तक सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली से प्रकाशित हुई है। मूल्य ३)

१७

तूफानके चिह्न

दक्षिण अफ्रीकामें रहते मुझे अब तीन साल हो चुके थे। मैं लोगोंके परिचयमें आ गया था। मेरी वकालत मामूली तौरपर अच्छी जम गई थी और मैं समझने लगा था कि लोगोंको वहां मेरी जरूरत है। इसलिए मैंने इरादा किया कि घर जाकर अपने परिवारको ले आऊं और यहां जमकर बैठूं। इसलिए १८९६ में मैं वहांसे छुट्टी लेकर छः महीनेके लिए भारत आया। मैं देशमें छः महीने बिता भी न पाया था कि नेटालसे मुझे तार मिला कि फौरन लौट आओ। इसलिए मैं फिर जल्दी ही लौट गया। दादा अब्दुल्लाने उसी समय 'कुरलैंड' नामका एक स्टीमर खरीदा था। उन्होंने मुझसे अनुरोध किया कि मैं उसी जहाजसे अपने कुटुम्बके साथ बिना किराया दिये ही यात्रा करूँ। मैंने कृतज्ञतापूर्वक उनकी इच्छाका स्वागत किया और दिसम्बर महीनेके शुरूमें बम्बईसे दुबारा नेटालके लिए जहाजमें बैठा। इस बार मेरे साथ मेरी पत्नी और मेरे दो पुत्र भी थे। दूसरा स्टीमर 'नादरी' भी उन्हीं दिनों डरबनके लिए छूटा। दोनों जहाजोंमें कुल मिलाकर आठ सौ मुसाफिर रहे होंगे, जिनमेंसे आधे ट्रांसवाल जानेवाले थे।

जहाज दूसरे बन्दरोंपर ठहरे बिना ही नेटाल पहुँचनेवाला था। इसलिए सिर्फ अठारह दिनकी यात्रा थी। मानो नेटालमें हमारे पहुँचते ही होनेवाले किसी भावी तूफानकी चेतावनी देने के लिए तीन-चार दिन पहले, समुद्रमें भारी तूफान आया। इस दक्षिण प्रदेशमें दिसम्बरका महीना गरमी और बरसातका मौसम होता है। इस कारण दक्षिण समुद्रमें इन दिनों छोटे-बड़े तूफान अक्सर आया करते हैं। तूफान इतने जोरका था और इतनी देर तक रहा कि मुसाफिर घबरा गए।

यह एक भव्य दृश्य था। दुःखमें सब एक हो गए । सारा

भेद-भाव भूल गए। ईश्वरको सच्चे हृदयसे स्मरण करने लगे। हिन्दु-मुसलमान सब साथ मिलकर ईश्वरको याद करने लगे। कितनोंने मिन्नतें मानीं। कप्तान भी यात्रियोंको आश्वासन देने लगा कि "यद्यपि तूफान जोरका है, फिर भी इससे बड़े-बड़े तूफानोंका अनुभव मुझे है। जहाज यदि मजबूत हो तो एकाएक डूबता नहीं, आदि।" इस तरह उसने मुसाफिरोंको बहुत समझाया; पर उन्हें किसी तरह तसल्ली न होती थी। जहाजमें ऐसी आवाजें होतीं, मानो जहाजके अभी कहीं-न-कहींसे टुकड़े होते हैं, या अभी कहीं छेद होता है। इधर-उधर इतना हिलता कि ऐसा जान पड़ता मानो अभी उलट जायगा। डेकपर खड़ा रहना ही मुश्किल था। 'ईश्वर जो करे सो सही' इसके सिवा दूसरी बात किसीके मुँहपर न थी।

मुझे जहाँतक याद है, ऐसी चिन्तामें चौबीस घंटे बीते होंगे। अन्तमें बादल बिखरे, सूर्यने दर्शन दिये। कप्तानने कहा—"अब तूफान जाता रहा।"

लोगोंके चेहरेसे चिन्ता दूर हुई, और उसके साथ ही ईश्वर भी। मौतका डर दूर होते ही फिर गान-तान, खान-पान शुरू हो गया; फिर वही मायाका राज्य छा गया। अब भी नमाज पढ़ी जाती, भजन होते, परन्तु तूफानके अवसरपर उसमें जो हार्दिकता दिखाई देती थी वह न थी।

परन्तु इस तूफानकी बदौलत मैं यात्रियों में हिल-मिल गया था। यह कह सकते हैं कि मुझे तूफानका भय न था अथवा कम-से-कम था। प्रायः इसी तरहके तूफान में पहले देख चुका था। जहाजमें मेरा जी नहीं मिचलाता, चक्कर भी नहीं आते; इसलिए लोगों में मैं निर्भय होकर घूम-फिर सकता था। उन्हें आश्वासन दे सकता था और कप्तानके संदेश उनतक पहुँचाता था। यह स्नेह-गाँठ मेरे लिए बहुत उपयोगी साबित हुई। हमारे जहाजने अठारह या उन्नीस दिसम्बरको डरबनके बन्दरपर लंगर डाला और 'नादरी' भी उसी दिन पहुँचा।

पर सच्चे तूफानका अनुभव तो अभी होना बाकी ही था।

१८

कसौटी

दक्षिण अफ्रीकाके बन्दरोंपर यात्रियोंकी पूरी-पूरी डाक्टरी जाँच होती है। यदि रास्तेमें किसीको कोई संक्रामक रोग हो गया हो तो जहाज सूतकमें—क्वारंटीनमें—रखा जाता है। हमने जब बम्बई छोड़ा तब वहाँ प्लेग फैल रहा था। इसलिए हमें सूतक बाधा होनेका कुछ तो भय था ही। बन्दरमें लंगर डालने के बाद सबसे पहले जहाज पीला झंडा फहराता है। डाक्टरी जाँचके बाद जब डाक्टर छुट्टी देता है पीला झंडा उतार दिया जाता है, फिर मुसाफिरोंके रिश्तेदारोंको जहाजपर आनेकी छुट्टी मिलती है।

इसके मुताबिक हमारे जहाजपर भी पीला झंडा लगा दिया गया था। डाक्टर आये। जाँच करके पाँच दिनके सूतकका हुक्म दिया गया; क्योंकि उनकी यह धारणा थी कि प्लेगके जन्तु तेईस दिन तक कायम रहते हैं। इसलिए उन्होंने यह तय किया कि बम्बई छोड़नेके बाद तेइस दिन तक यात्रियोंको सूतकमें रखना चाहिए।

परन्तु इस सूतकके हुक्मका हेतु केवल आरोग्य न था। डरबनके गोरे हमें वापस भारत लौटा देनेका आन्दोलन कर रहे थे। इस हुक्ममें यह बात भी मद्दनजर थी।

दादा अब्दुल्लाकी ओरसे हमें शहरकी इस हलचल की खबरें मिला करती थीं। गोरोंकी बड़ी-बड़ी सभाएँ होती थीं। दादा अब्दुल्लाको धमकियाँ भेजी जाती थीं और उन्हें लालच भी दिये जाते थे। यदि दादा अब्दुल्ला दोनों जहाजोंको वापस लौटा दें तो उन्हें सारा हरजाना देनेको तैयार थे। दादा अब्दुल्ला किसी-की धमकियोंसे डरनेवाले न थे। इस समय वहाँ सेठ अब्दुलकरीम

हाजी आदम दुकानपर थे। उन्होंने प्रतिज्ञा कर रखी थी कि चाहे जितना नुकसान हो, मैं जहाजको बन्दरपर लाकर मुसाफिरोंको उतरवाकर रहूँगा। मुझे हमेशा वह सविस्तर पत्र लिखा करते। सद्भाग्यसे इस बार स्वर्गीय मनसुखलाल हीरालाल नाजर मुझसे मिलने डरबन से आ पहुँचे थे। वह बड़े चतुर और जवाँमर्द आदमी थे। उन्होंने लोगोंको उतरनेकी सलाह दी। उनके वकील मि० लाटन थे। वह भी वैसे ही बहादुर थे। उन्होंने गोरोंके कामकी खूब निन्दा की और लोगोंको जो सलाह दी वह केवल वकीलकी हैसियतसे फीस लेनेके लिए नहीं, बल्कि एक सच्चे मित्रके तौरपर दी थी।

गोरोंके इस आन्दोलनका मध्यबिन्दु मैं ही था। मुझपर दो इलजाम थे—

(१) हिन्दुस्तानमें मैंने नेटालके गोरोंकी अनुचित निन्दा की है, और—

(२) मैं नेटालको हिन्दुस्तानियोंसे भर देना चाहता हूँ। इसलिए 'कुरलैंड' और 'नादरी' में खासतौरपर नेटालमें बसानेके लिए हिन्दुस्तानियोंको भर लाया हूँ।

मुझे अपनी जिम्मेदारीका खयाल था। मेरे कारण दादा अब्दुल्लाने बड़ी जोखिम अपने सिर ले ली थी। मुसाफिरोंकी भी जान जोखिममें थी। मैंने अपने बाल-बच्चोंको साथ लाकर उन्हें भी दुःखमें डाल दिया था। फिर भी मैं था सब तरह निर्दोष। मैंने किसीको नेटाल जानेके लिए ललचाया न था।

अन्तमें तेईसवें दिन अर्थात् तेरह जनवरीको जहाजको इजाजत मिली और मुसाफिरोंको उतरने देनेकी आज्ञा प्रकाशित हो गई। जहाज धक्केपर आया। मुसाफिर उतरे; परन्तु मेरेलिए दक्षिण अफ्रीकाकी सरकारके एक सदस्य मि० एस्कंबने कप्तानसे कहला दिया था कि गांधीको तथा उनके बाल-बच्चोंको शामको उतारियेगा। गोरे उनके खिलाफ बहुत उभरे हुए हैं और उनकी जान खतरेमें है। धक्केके सुपरिन्टेन्डेन्ट मि० टैटम उन्हें शामको

लिवा ले जायँगे।

कप्तानने मुझे यह संदेश सुनाया। मैंने उसके अनुसार शामको उतरना स्वीकार किया, परन्तु इस संदेशको मिले अभी आधा घंटा भी न हुआ होगा कि मि० लाटन आये और कप्तानसे मिलकर कहा—"यदि मि० गांधी मेरे साथ आना चाहें तो मैं अपनी जिम्मेदारीपर ले जाना चाहता हूँ। जहाजके एजेंटके वकीलकी हैसियतसे मैं आपसे कहता हूँ कि मि० गांधीके सम्बन्धमें जो आदेश आपको मिला है उससे आप अपनेको बरी समझें।" इस तरह कप्तानसे बातचीत करके वह मेरे पास आये और कुछ इस प्रकार कहा—"यदि आपको जिन्दगीका डर न हो तो मैं चाहता हूँ कि श्रीमती गांधी और बच्चे गाड़ीमें रुस्तमजी सेठके यहाँ चले जायँ और मैं और आप आम रास्तेसे होकर पैदल चलें। रातमें अँधेरा पड़ जानेपर चुपके-चुपके शहरमें जाना मुझे बिलकुल अच्छा नहीं लगता। अब तो चारों ओर शान्ति है। गोरे सब इधर-उधर बिखर गए हैं और मेरा तो यही मत है कि आपका इस तरह छिपकर जाना ठीक नहीं।"

मैं सहमत हुआ। पत्नी और बच्चे रुस्तमजी सेठके यहाँ गाड़ीमें गये और सही-सलामत जा पहुँचे। मैं कप्तानसे बिदा माँगकर मि० लाटनके साथ जहाजसे उतरा। रुस्तमजी सेठका घर कोई दो मील था।

जैसे ही हम जहाजसे उतरे, कुछ गोरे लड़कोंने मुझे पहचान लिया और वे 'गांधी-गांधी' चिल्लाये। तत्काल दो-चार आदमी इकट्ठे हो गए और मेरा नाम लेकर जोरसे चिल्लाने लगे। मि० लाटनने देखा कि भीड़ बढ़ जायगी, इससे उन्होंने रिक्शा मँगाई। मुझे रिक्शामें बैठना कभी अच्छा न मालूम होता था। मुझे उसका यह पहला ही अनुभव होनेवाला था। पर छोकरे क्यों बैठने देने लगे? उन्होंने रिक्शावालेको धमकाकर भगा दिया।

हम आगे बढ़े। भीड़ भी बढ़ती जाती थी। काफी मजमा हो गया। सबसे पहले तो भीड़ने मुझे मि० लाटनसे अलग कर

दिया। फिर मुझपर पत्थर और सड़े अंडे बरसने लगे । किसीने मेरी पगड़ी भी उड़ा दी और मुझपर लातें जमानी शुरू हुईं।

मुझे गश आ गया। नजदीकके घरकी जाली पकड़कर मैंने सहारा लिया। खड़ा रहना तो असंभव ही था। अब थप्पड़-घूंसे भी पड़ने लगे।

इतने ही में पुलिस-सुपरिन्टेन्डेन्टकी पत्नी, जो मुझे जानती थीं, उधरसे होकर निकलीं। मुझे देखते ही वह मेरे पास आ खड़ी हुईं, और धूपके न रहते हुए भी अपना छाता मुझपर तान दिया। इससे भीड़ कुछ दबी। अब वे अगर चोट करते भी तो मिसेज अलेक्जेंडरको बचाकर ही कर सकते थे।

इसी बीच कोई हिन्दुस्तानी, मुझपर हमला होता हुआ देख, पुलिस-थानेमें दौड़ गया। सुपरिन्टेन्डेन्ट अलेक्जेंडरने पुलिसकी एक टुकड़ी मुझे बचानेके लिए भेजी। वह समयपर आ पहुंची। मेरा रास्ता पुलिस-चौकीसे ही गुजरता था। सुपरिन्टेन्डेन्टने थानेमें ठहर जानेको कहा। मैंने इन्कार कर दिया, कहा—"जब लोग अपनी भूल समझ लेंगे तब शान्त हो जायँगे। मुझे उनकी न्याय-बुद्धिपर विश्वास है।"

पुलिसकी रक्षामें मैं सही-सलामत पारसी रुस्तमजीके घर पहुँचा। पीठपर मुझे भीतरी चोट आई थी। जख्म सिर्फ एक ही जगह हुआ था। जहाजके डाक्टर दादी बरजोरजी वहीं मौजूद थे। उन्होंने मेरी अच्छी तरह सेवा-शुश्रूषा की।

इस तरह जहाँ अन्दर शान्ति थी,वहाँ बाहरसे गोरोंने घरको घेर लिया। शाम हो गई थी। अँधेरा पड़ गया था। हजारों लोग बाहर शोर मचा रहे थे और चिल्ला रहे थे कि "गांधीको हमारे हवाले कर दो।" मौका नाजुक देखकर सुपरिन्टेन्डेन्ट अलेक्जेंडर स्वयं वहाँ पहुँच गए थे और भीड़को डरा-धमकाकर नहीं, बल्कि हँसी-मजाक करते हुए काबूमें रख रहे थे।

फिर भी वह चिन्तामुक्त न थे। उन्होंने मुझे इस आशयका संदेशा भेजा—"यदि आप अपने मित्रके जान-मालको, मकानको

तथा अपने बाल-बच्चोंको बचाना चाहते हैं तो मैं जिस तरह बताऊँ, आपको छिपकर इस घरसे निकल जाना चाहिए।" सुपरिन्टेन्डेन्टकी तजवीजके मुताबिक मैंने हिन्दुस्तानी सिपाहीकी वर्दी पहनी। कहीं सिरपर चोट न लगे, इस अंदेशेसे सिरपर एक पीतल की तश्तरी रख ली और उसपर मदरासियों का-सा लम्बा साफा लपेटा। साथमें दो जासूस थे, जिनमें एकने हिन्दुस्तानी व्यापारीका रूप बनाया था, अपना मुँह हिन्दुस्तानीके रंगका रंग लिया था। दूसरेने क्या स्वांग बनाया था, यह मैं भूल गया हूँ। हम नजदीककी गलीसे होकर पड़ोसकी एक दूकानमें पहुँचे और गोदाममें रखे बोरोंके ढेरके अँधेरेमें बचते हुए दुकानके दरवाजेसे निकल भीड़में होकर बाहर चले गए। गलीके मुंहपर गाड़ी खड़ी थी, उसमें बैठकर हम उसी थानेपर पहुँचे, जहाँ ठहरनेके लिए सुपरिन्टेन्डेन्ट अलेक्जेंडरने पहले कहा था। मैंने सुपरिन्टेन्डेन्ट तथा खुफिया पुलिसके अफसरका एहसान माना।

इस तरह एक ओर जब मैं दूसरी जगह ले जाया जा रहा था, तब दूसरी ओर सुपरिन्टेन्डेन्ट भीड़को गीत सुना रहा था कि—

"चलो इस गांधीको हम उस इमलीके पेड़पर फांसी लटका दें।"

जब सुपरिन्टेन्डन्टको खबर मिल गई कि मैं सही-सलामत मुकामपर पहुँच गया, तब उन्होंने भीड़से कहा—"लो तुम्हारा शिकार तो इस दुकानसे होकर सही-सलामत बाहर सटक गया।" यह सुनकर भीड़मेंसे कुछ लोग बिगड़े, हँसे और बहुतेरोंने तो उनकी बात ही न मानी।

"तो तुममेंसे कोई जाकर अन्दर देख ले। अगर गांधी वहाँ मिल जाय, तो उसे मैं तुम्हारे हवाले कर दूंगा। न मिले तो तुमको अपने घर चले जाना चाहिए। मुझे इतना तो विश्वास है कि तुम रुस्तमजीके मकानको न जलाओगे और गांधीके बाल-बच्चोंको नुकसान न पहुँचाओगे," सुपरिन्टेन्डेन्टने कहा।

भीड़ने प्रतिनिधि चुने। उन्होंने भीड़ को निराशाजनक समाचार सुनाए। सब सुपरिन्टेन्डेन्ट अलेक्जेंडरकी समय-सूचकता

और चतुराईकी स्तुति करते हुए और कुछ लोग मन-ही-मन कुढ़ते हुए, अपने-अपने घर चले गए।

बादमें स्वर्गीय मि० चेम्बरलेन ने दक्षिण अफ्रीकाके अधिकारियोंको तार दिया कि गांधीपर हमला करनेवालोंपर मुकदमा चलाया जाय और ऐसा किया जाय कि जिससे गांधीको इन्साफ मिले। मि० एस्कंबने मुझे बुलाया। मुझपर जो हमला हुआ, उसके लिए दुःख प्रदर्शित किया और कहा—"आप यह तो अवश्य मानेंगे कि आपको जरा भी कष्ट पहुँचनेसे मुझे खुशी नहीं हो सकती। मि० लाटन की सलाह मानकर आपने तुरन्त उतर जानेका साहस जो किया, उसका आपको हक था। पर यदि मेरे संदेशके अनुसार आपने किया होता तो यह दुःखद घटना न हुई होती। अब यदि आप आक्रमणकारियोंको पहचान सकें तो मैं उन्हें गिरफ्तार करके मुकदमा चलानेके लिए तैयार हूँ। मि० चेम्बरलेन भी ऐसा ही चाहते हैं।"

"मैं किसीपर मुकदमा चलाना नहीं चाहता। आक्रमण-कारियोंमें से एक-दोको मैं पहचान भी लूं तो उन्हें सजा करानेसे क्या लाभ? फिर मैं तो उन्हें दोषी भी नहीं मानता; क्योंकि उन बेचारोंको तो यह कहा गया कि मैंने हिन्दुस्तानमें नेटालके गोरों की भरपेट और बढ़ा-चढ़ाकर निन्दा की है। इस बातपर यदि वे विश्वास करलें और मुझपर बिगड़ पड़ें तो इसमें आश्चर्य की कौन बात है? कुसूर तो ऊपरके लोगोंका, और मुझे कहने दें तो, आपका माना जा सकता है। आप लोगोंको ठीक सलाह दे सकते थे, पर आपने रूटरके तारपर विश्वास किया और कल्पना करली कि मैंने सचमुच ही अत्युक्तिसे काम लिया था। मैं किसीपर मुकदमा चलाना नहीं चाहता। जब असली और सच्ची बात लोगोंपर प्रकट हो जायगी और लोग जान जायँगे तब अपने-आप पछतायेंगे।"

"तो आप मुझे यह बात लिखकर दे देंगे? मुझे मि० चेम्बरलेन को इस आशयका तार देना पड़ेगा। मैं नहीं चाहता

कि आप जल्दीमें कोई बात लिख दें। मि० लाटनसे तथा अपने दूसरे मित्रोंसे सलाह करके जो उचित लगे वही करें। हाँ, यह बात मैं जानता हूँ कि यदि आप आक्रमणकारियोंपर मामला न चलायेंगे तो सब बातोंको शान्त करनेमें मुझे बहुत मदद मिलेगी और आपकी प्रतिष्ठा तो बहुत ही बढ़ जायगी।"

मैंने उत्तर दिया—"इस संबंधमें मेरे विचार निश्चित हो चुके हैं। यह तय है कि मैं किसीपर मुकदमा चलाना नहीं चाहता। इसलिए मैं आपको लिखे देता हूँ।"

यह कहकर मैंने वह आवश्यक पत्र लिख दिया।

हमलेके दो-एक दिन बाद जब मैं मि० एस्कंबसे मिला तब मैं पुलिस थानेमें ही था। मेरे साथ मेरी रक्षाके लिए एक-दो सिपाही रहते थे। पर जब मैं मि० एस्कंबके पास ले जाया गया था तब इस तरह रक्षाकी जरूरत ही नहीं रह गई थी।

जिस दिन मैं जहाजसे उतरा उसी दिन अर्थात् पीला झंडा उतरते ही, तुरन्त 'नेटाल एडवरटाइजर' का प्रतिनिधि मुझसे आकर मिला था। उसने कितनी ही बातें पूछी थीं और उसके प्रश्नोंके उत्तरमें मैंने एक-एक बात का पूरा-पूरा जवाब दिया था। सर फिरोजशाह की नेक सलाहके अनुसार उस समय मैंने भारत-में एक भी भाषण बगैर लिखा नहीं दिया था। अपने इन तमाम लेखों और भाषणोंका संग्रह मेरे पास था ही। वे सब मैंने उसे दे दिये और यह साबित करा दिया कि भारत में मैंने ऐसी एक भी बात नहीं कही थी, जो उससे कड़े शब्दों में दक्षिण अफ्रीकामें न कही हो। मैंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि 'कुरलैंड' तथा 'नादरी' के मुसाफिरोंको लानेमें मेरा हाथ बिलकुल नहीं है। उनमेंसे बहुतेरे तो नेटालके ही पुराने बाशिंदे थे। और शेष नेटाल जानेवाले नहीं, बल्कि ट्रांसवाल जानेवाले थे। उस समय नेटालमें रोजगार मन्दा था। ट्रांसवालमें काम-धंधा खूब चल रहा था और आमदनी भी अच्छी होती थी। इसलिए अधिकांश हिन्दुस्तानी वहीं जाना पसन्द करते थे।

इसी स्पष्टीकरणका तथा आक्रमणकारियोंपर मुकदमा न चलानेका प्रभाव इतना जबर्दस्त हुआ कि गोरोंको शर्मिन्दा होना पड़ा। अखबारोंने मुझे निर्दोष बताया और हुल्लड़ करनेवालोंको भला-बुरा कहा। इस प्रकार अन्तमें मुझे इस घटनासे लाभ ही हुआ। और जो मेरा लाभ था वह कौमका ही लाभ था। इससे हिन्दुस्तानी लोगोंकी प्रतिष्ठा बढ़ी और मेरा 'सत्याग्रह' का रास्ता अधिक सुगम हो गया।

तीन या चार दिनमें मैं घर गया और थोड़े ही दिनोंमें मैं अपना काम-काज देखने-भालने लगा।

१९

सेवा-भाव और सादगी

मेरा काम यद्यपि ठीक चल रहा था, फिर भी मुझे उससे सन्तोष न था। मनमें यह मंथन चलता ही रहता था कि जीवनमें अधिक सादगी आनी चाहिए और कुछ-न-कुछ शारीरिक सेवा-कार्य होना चाहिए।

संयोगसे एक दिन एक अपंग कोढ़ी घर आ पहुँचा। पहले तो कुछ खानेको देकर हटा देनेको जी चाहा; पर बादको मैंने उसे एक कमरेमें रखा, उसके जख्मोंको धोया और शुश्रूषा की। किन्तु यह कितने दिनों तक चल सकता था? सदाके लिए उसे घरमें रखने योग्य न सुविधा थी, न हिम्मत। अतः मैंने उसे गिर-मिटियोंके सरकारी अस्पतालमें भेज दिया।

पर इससे मुझे तृप्ति नहीं हुई। मनमें यह हुआ करता कि यदि ऐसा कोई शुश्रूषाका काम सदा मिलता रहे तो क्या ही अच्छा हो। डा० बूथ सेंट एडम्स मिशनके अधिकारी थे। जो कोई आता उसे वह हमेशा मुफ्त दवा देते थे। बड़े भले आदमी थे, हृदय स्नेहपूर्ण था। उनकी देख-रेखमें पारसी रुस्तमजीके दानसे एक छोटा-सा अस्पताल खोला गया था। इसमें शुश्रूषकके तौरपर

काम करनेकी मुझे बड़ी इच्छा हुई। एक-दो घंटेतक उसमें दवा देनेका काम रहता था। दवा बनानेवाले किसी अवैतनिक या स्वयंसेवककी वहाँ जरूरत थी। मैंने इतना समय अपने कामोंमें से निकालकर इस कामको करनेका निश्चय किया। वकालत-संबंधी मेरा काम तो इतना ही था—दफ्तरमें बैठे-बैठे सलाह देना, दस्तावेजके मसविदे बनाना और झगड़े सुलझाना। मैजिस्ट्रेटके इजलासमें थोड़े-बहुत ही मुकदमे रहते। उनमेंसे अधिकांश तो अविवादास्पद होते थे। जब ऐसे मुकदमे होते तो मेरे साथी श्री-खान उनकी पैरवी कर देते। वह मेरे बाद आये थे और मेरे साथ ही रहते थे। उनके इस सहयोगके कारण मैं इस छोटे-से अस्पताल-में काम करने लगा।

रोज सुबह वहाँ जाता। आने-जाने और काम करनेमें कोई दो घंटे लगते। इस काममें मेरे मनको शान्ति मिली। रोगीसे हाल-चाल पूछकर डाक्टरको समझाना और डाक्टर जो दवा बतावे वह तैयार करके दे देना, यह मेरा काम था। इस कार्यसे मैं दुखी हिन्दुस्तानियोंके निकट संबंधमें आने लगा। उसमें ज्यादातर लोग तो तमिल और तेलुगू या उत्तर भारतीय गिरमिटिया थे।

यह अनुभव मुझे आगे जाकर बड़ा उपयोगी साबित हुआ। बोअर-युद्धके समय घायलोंकी शुश्रूषामें तथा दूसरे रोगियोंकी सेवा-टहलमें मुझे उससे बड़ी सहायता मिली।

इस प्रकार सेवा द्वारा लोगोंके निकट परिचयमें आना शुरू हुआ। उसके साथ ही सादगीकी ओर भी झुकाव बढ़ा।

यद्यपि मेरी रहन-सहन शुरूमें कुछ ठाट-बाटकी थी, परन्तु उसका मोह मुझे नहीं हुआ। इसलिए घर-गृहस्थी जमाते ही मैंने खर्च कम करनेकी शुरुआत की। धुलाईका खर्च कुछ ज्यादा मालूम हुआ। धोबी नियमित रूपसे कपड़े भी न लाता, इस कारण दो-तीन दर्जन कमीज और इतने ही कालरसे कममें काम न चलता। कालर रोज बदलता था, कमीज रोज नहीं तो तीसरे दिन जरूर बदलता। इस तरह दोहरा खर्च लगता। यह मुझे

व्यर्थ मालूम हुआ। इसलिए घरपर ही कपड़े धोनेकी शुरुआत की। धुलाई-विद्याकी पुस्तक पढ़कर धोना सीख लिया और पत्नीको भी सिखा दिया। इससे कामका कुछ भार बढ़ा तो, पर एक नई चीज थी, इसलिए मनोरंजन भी होता।

पहले-पहल जो कालर मैंने धोया, उसे मैं कभी न भूल सकूंगा। इसमें कलफ ज्यादा था और इस्त्री पूरी गरम न थी। फिर कालरके जल जानेके भयसे इस्त्री ठीक-ठीक दबाई नहीं गई थी। इस कारण कालर कड़ा तो हो गया; पर उसमेंसे कलफ झिरता रहता था।

इसी कालरको लगाकर मैं अदालतमें गया और बैरिस्टरोंके मजाकका साधन बन गया; परन्तु ऐसी हँसी-दिल्लगीको सहन करनेकी क्षमता मुझमें उस समय भी कम न थी।

"कालर हाथसे धोनेका यह पहला प्रयोग है, इसलिए उसमें-से कलफ झिर रहा है। पर मेरा इसमें कुछ हर्ज नहीं होता। फिर आप सब लोगोंके इतने विनोदका कारण हुआ, यह विशेष बात है," मैंने स्पष्टीकरण किया।

"पर धोबी क्या नहीं मिलते?" एक मित्रने पूछा।

"यहां धोबीका खर्च मुझे नागवार मालूम हो रहा है। कालरकी कीमतके बराबर धुलाईका खर्च—और फिर भी धोबीकी गुलामी बरदाश्त करनी पड़ती है, सो अलग। इसकी बनिस्बत तो मैं घरपर हाथसे धो लेना ही ज्यादा पसंद करता हूं।"

पर स्वावलंबनकी यह खूबी मैं अपने मित्रोंको न समझा सका।

मुझे कहना चाहिए कि अन्तमें मैंने अपने कामके लायक कपड़े धोनेकी कुशलता प्राप्त करली थी, और कहना होगा कि धोबीकी धुलाईसे घरकी धुलाई किसी तरह घटिया न रहती थी। कालरका कड़ापन और चमक धोबीके धोये कालरसे किसी तरह कम न थी।

गोखलेके पास स्व०महादेव गोविंद रानाडेका प्रसाद-स्वरूप

एक दुपट्टा था। गोखले उसे बड़े जतनसे रखते और प्रसंग-विशेष-पर ही उसका इस्तेमाल करते । जोहान्सबर्गमें उनके स्वागतके उपलक्ष्यमें जो भोज हुआ था, वह अवसर बड़े महत्त्वका था । दक्षिण अफ्रीकामें यह उनका सबसे महत्त्वपूर्ण भाषण था। इसलिए इस अवसरपर अपना वह दुपट्टा डालना चाहते थे । उसमें सलवटें पड़ गई थीं और इस्त्री करनेकी जरूरत थी। धोबीके यहाँ भेजकर तुरन्त इस्त्री करा लेना सम्भव न था। मैंने कहा—"जरा मेरी विद्याको भी आजमा लीजिए।"

"तुम्हारी वकालतपर मैं विश्वास कर सकता हूँ, पर इस दुपट्टेपर तुम्हारी धुलाई-कलाका प्रयोग न होने दूंगा। तुम इसे जला डालो तो ? जानते हो यह कितना अमूल्य है ?" यह कहकर उन्होंने बड़े उल्लाससे उस प्रसादीकी कथा कह सुनाई।

मैंने नम्रताके साथ दाग न पड़ने देनेकी जिम्मेदारी ली और मुझे इस्त्री करनेकी इजाजत मिल गई। बादमें अपनी कुलशताका प्रमाण-पत्र भी मुझे मिला। अब यदि दुनिया मुझे प्रमाण-पत्र न दे तो इससे क्या ?

२०

एक पुण्य-स्मरण और प्रायश्चित्त

डरबन और जोहान्सबर्गमें मेरे साथ कई मित्र और बहुत बार मेरे कारकुन भी रहते थे। वे आमतौरपर हिन्दू और ईसाई होते थे, अथवा प्रान्तोंके हिसाबसे कहें तो गुजराती और मद्रासी। मुझे याद नहीं आता कि कभी उनके विषयोंमें मेरे मनमें कोई भेद-भाव पैदा हुआ हो। मैं उन्हें बिल्कुल घरके जैसा समझता। यह मेरा कोई विशेष गुण नहीं बल्कि स्वभाव ही है। मेरा एक क्लर्क ईसाई था। उसके माँ-बाप पंचम जाति के थे। कमरोंमें पेशाबके लिए एक अलग बर्तन होता था। उसे साफ करनेका काम हम दोनों—दम्पति—का था, नौकरोंका नहीं। हाँ, जो कारकुन

लोग अपनेको हमारा कुटुम्बी-सा मानने लगते थे वे तो खुद ही उसे साफ कर डालते थे। लेकिन ये पंचम जातिमें जन्मे कारकुन नये थे। उनका वर्तन हमें ही उठाकर साफ करना चाहिए था, और बर्तन तो कस्तूरबाई उठाकर साफ कर देती, लेकिन इन भाईका वर्तन उठाना उसे असह्य मालूम हुआ। इसलिए हम दोनोंमें काफी विवाद हुआ। यदि मैं उठाता हूँ तो उसे अच्छा नहीं लगता था और खुद उठाना उसके लिए कठिन था। फिर भी आँखोंसे मोतीकी बूँदें टपक रही हैं, एक हाथ में वर्तन है और अपनी लाल-लाल आँखोंसे उलहना देती हुई कस्तूरबाई सीढ़ियोंसे उतर रही है! वह चित्र मैं आज भी ज्यों-का-त्यों खींच सकता हूँ।

परन्तु मैं जैसा सहृदय और प्रेमी पति था, वैसा ही निठुर और कठोर भी था। मैं अपनेको उसका शिक्षक मानता था। इससे, अपने अन्ध-प्रेमके अधीन हो, मैं उसे खूब सताता था। इस कारण महज उसके वर्तन उठा ले जाने-भरसे मुझे सन्तोष न हुआ। मैंने यह भी चाहा वह प्रसन्नतापूर्वक यह काम करे। इसके लिए मैंने उसे डाँटा-डपटा भी। मैं उत्तेजित होकर यह कह गया—"देखो, यह वखेड़ा मेरे घरमें न चल सकेगा।"

मेरा यह बोल कस्तूरबाईको तीरकी तरह लगा। उसने भरे हुए दिलसे कहा—"तो सम्भालो अपना घर! यह मैं चली।"

उस समय मैं ईश्वरको भूल गया था। लेश-मात्र दया मेरे हृदयमें न रह गई थी। मैंने उसका हाथ पकड़ा। सीढ़ीके सामने ही बाहर निकलनेका दरवाजा था। मैं उस दीन अवलाका हाथ पकड़ दरवाजेतक खींचकर ले आया। दरवाजा आधा खोला था कि आँखोंमें गंगा-जमनाकी धार वहाती हुई कस्तूरबाई बोली—

"तुम्हें तो कुछ शरम है नहीं, पर मुझे है। जरा तो लजाओ। मैं बाहर निकलकर जाऊँ कहाँ? माँ-बाप भी यहाँ नहीं कि उनके पास चली जाऊँ। मैं ठहरी स्त्री। इसलिए मुझे तुम्हारी धौंस सुननी ही पड़ेगी। अब शरम करो और दरवाजा बन्द करलो।

कोई देख लेगा तो दोनोंकी फजीहत होगी।"

मैंने अपना चेहरा सुर्ख तो बनाये रखा, पर मनमें शरमा जरूर गया। दरवाजा बन्द कर दिया। जब पत्नी मुझे नहीं छोड़ सकती थी, तब मैं भी उसे छोड़कर कहां जा सकता था? इस तरह हमारे आपसमें कई बार लड़ाई-झगड़े हुए हैं, परन्तु उनका परिणाम सदा अच्छा ही निकला है। उसमें पत्नीने अपनी अद्‌भुत सहनशीलताके द्वारा हमेशा विजय प्राप्त की है।

आज मैं तबकी तरह मोहांध पति नहीं हूं, न उसका शिक्षक ही हूं। हम आज एक-दूसरेके भुक्त-भोगी मित्र हैं, एक-दूसरेके प्रति निर्विकार रहकर जीवन बिता रहे हैं। कस्तूरबाई आज ऐसी सेविका बन गई है, जो मेरी बीमारियोंमें बिना प्रतिफलकी इच्छा किये सेवा-शुश्रूषा करती है। मेरा अनुगमन करनेमें उसने अपने जीवनकी सार्थकता मानी है और स्वच्छ जीवन बितानेके मेरे प्रयत्नोंमें उसने कभी बाधा नहीं डाली। इस कारण यद्यपि हम दोनोंकी बुद्धि और शक्तिमें बहुत अन्तर है, फिर भी मेरा खयाल है कि हमारा जीवन संतोषी, सुखी और ऊर्ध्व-गामी है।

२१

बोअर-युद्ध

१८९७ से ९९ ईस्वी तकके जीवनके दूसरे कई अनुभवोंको छोड़कर अब बोअर-युद्धपर आता हूं। जब यह युद्ध छिड़ा तब मेरी सहानुभूति बिलकुल बोअरोंके पक्षमें थी, पर मैं यह मानता था कि ऐसी बातोंमें अपने व्यक्तिगत विचारोंके अनुसार काम करनेका अधिकार अभी मुझे प्राप्त नहीं हुआ है। इस सम्बन्धमें जो मंथन मेरे हृदयमें हुआ, उसका सूक्ष्म निरीक्षण मैंने 'दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहका इतिहास'में किया है। जिनको जाननेकी इच्छा हो वे उस पुस्तकको पढ़ लें। यहां तो इतना ही कहना

काफी है कि ब्रिटिश राज्यके प्रति मेरी वफादारी मुझे उस युद्धमें योग देनेके लिए जबर्दस्ती घसीट ले गई। मैंने सोचा कि जब मैं ब्रिटिश प्रजाकी हैसियतसे हकोंका मतालवा कर रहा हूँ तो ब्रिटिश प्रजाकी हैसियतसे ब्रिटिश राज्यकी रक्षामें सहायक होना मेरा धर्म है। ब्रिटिश साम्राज्यमें हिन्दुस्तानकी सब तरह उन्नति हो सकती है, यह उस समय मेरा मत था।

इसलिए जितने साथी मिले उनको लेकर, अनेक मुसीबतोंका सामना करके हमने घायलोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेवाली एक टुकड़ी तैयार की। अबतक अंग्रेजोंकी यह आम धारणा थी कि यहाँके हिन्दुस्तानी जोखिमके कामोंमें नहीं पड़ते, स्वार्थके अलावा उन्हें और कुछ नहीं सूझता। इसलिए कितने ही अंग्रेज मित्रोंने मुझे निराशाजनक उत्तर दिये। अलबत्ता डा० बूथने खूब प्रोत्साहन दिया। उन्होंने हमें घायल सिपाहियोंकी शुश्रूषा करनेकी शिक्षा दी। अपनी योग्यताके सम्बन्धमें मैंने डाक्टरके प्रमाण-प्राप्त किये।

सरकारने इस सिलसिलेमें हमारी प्रार्थना स्वीकार की और इस टुकड़ीमें लगभग ग्यारह सौ लोग हो गये। उनमें लगभग चालीस मुखिया थे। कोई तीन सौ स्वतन्त्र हिन्दुस्तानी भरती हुए थे और शेष गिरमिटिया थे। डा० बूथ भी हमारे साथ थे। टुकड़ीने अपना काम अच्छी तरह किया। यद्यपि उसका कार्य-क्षेत्र लड़ाईके मैदानके बाहर था और रेडक्रास[1] चिह्न उनकी रक्षाके लिए लगा हुआ था, फिर भी आवश्यकताके समय प्रत्यक्ष युद्ध-क्षेत्रकी हदके अंदर भी काम करनेका अवसर हमें मिला। ऐसी जोखिममें न पड़ने देनेका इकरार सरकारने अपनी इच्छासे हमारे साथ किया था, परन्तु स्पियांकोपकी हारके बाद स्थिति

---

१. रेडक्रास का अर्थ है लाल स्वस्तिक। युद्धमें इस चिह्नसे अंकित पट्टे शुश्रूषा करनेवालेके बायें हाथमें बंधे रहते हैं और ऐसे नियम हैं कि शत्रु भी उनको नुकसान नहीं पहुंचा सकते। —संपादक

बदली। इस कारण जनरल बुलरने संदेश भेजा कि यद्यपि आप जोखिमकी जगह काम करनेके लिए बँधे हुए नहीं हैं, फिर भी यदि आप खतरेका सामना करके घायल सिपाहियों अथवा अफसरोंको रण-क्षेत्रसे उठाकर डोलियोंमें ले जानेके लिए तैयार हो जायँगे तो सरकार आपका उपकार मानेगी। इधर हम तो जोखिम उठानेके लिए तैयार ही थे। अतएव स्पियांकोपके युद्धके बाद हम गोला-बारूदकी हदके अन्दर भी काम करने लगे।

इन दिनों हम सबको कई बार बीस-पच्चीस मीलकी मंजिल तय करनी पड़ती थी। एक बार तो घायलोंको डोलीमें रखकर इतनी दूर चलना भी पड़ा था। जिन घायल योद्धाओंको हम उठाकर ले जाते थे, उनमें जनरल उडगेट इत्यादि भी थे।

छः सप्ताहके बाद हमारी टुकड़ीको छुट्टी मिल गई। हमारी इस छोटी-सी सेवाकी उस समय बहुत प्रशंसा हुई। उससे हिन्दुस्तानियोंकी प्रतिष्ठा बढ़ी। 'आखिर हिन्दुस्तानी हैं तो साम्राज्यके वारिस ही' ऐसे गीत गाए गए।

मनुष्य-स्वभाव दुःखके समय कैसा नम्र हो जाता है, इसकी एक मधुर स्मृति यहां दिए बिना नहीं रह सकता। हम लोग चीवली छावनीकी ओर जा रहे थे। यह वही क्षेत्र है, जहां लार्ड राबर्ट्सके पुत्र लेफ्टिनेंट राबर्ट्सको मर्मांतक गोली लगी थी। लेफ्टिनेंट राबर्ट्स के शवको ले जानेका गौरव हमारी टुकड़ीको प्राप्त हुआ था। लौटते समय दिनमें धूप कड़ी थी। हम कूच कर रहे थे। सब प्यासे थे। पानी पीनेके लिए रास्तेमें एक छोटा-सा झरना पड़ा। सवाल उठा, पहले कौन पानी पिये? मैंने सोचा था कि 'टामियों' के पी लेनेके बाद हम पियेंगे। टामियोंने हमें देखकर तुरंत कहा—"पहले आप लोग पी लें।" हमने कहा—"नहीं पहले आप पियें।" इस तरह बहुत देरतक हमारे और उनके बीच मधुर आग्रहकी खींचा-तानी होती रही।

इस अध्यायको खत्म करनेसे पहले मुझे एक महत्त्वपूर्ण घटनाका जिक्र करना चाहिए। जब लेडी स्मिथपर बोअरोंने

घेरा डाल रखा था तब वहां जो लोग थे, उनमें अंग्रेजोंके अलावा कुछ वहींके निवासी हिन्दुस्तानी भी थे। उनमेंसे कुछ-एक तो व्यापार करते थे और कुछ रेलवेमें मजदूरी या यूरोपियन लोगोंके यहाँ नौकरी करते थे। इनमेंसे एक प्रभुसिंह था। लेडी स्मिथके कमांडिंग आफिसरने उस जगहके हर आदमीको कुछ-न-कुछ काम सौंप रखा था। शायद सबसे ज्यादा खतरनाक और भारी-से-भारी जिम्मेदारीका काम इस प्रभुसिंह कुलीको सौंपा गया था। लेडी स्मिथके पासकी एक पहाड़ीपर बोअरोंने अपनी योमपोम नामक तोप लगा रखी थी, जिसके गोलोंसे बहुत-सी इमारतें नष्ट हो चुकी थीं और कितने ही मनुष्य तथा पशु भी मारे गये थे। तोपसे गोला छुटनेके कम-से-कम एक या दो मिनट बाद वह अपने दूरके लक्ष्यपर पहुँचता था। अगर घेरेमें पड़े लोगोंको पहलेसे सूचना मिल जाय तो गोला उनके बीचमें गिरनेके पहले वे अपने-आपको आड़में कर सकते थे। प्रभुसिंह एक पेड़पर छिपकर बैठा रहा करता था और जबतक तोपें चलती रहतीं, उसकी आँखें पहाड़ीकी ओर ही लगी रहती थीं और ज्योंही वह तोप छूटनेकी चमक देखता, घंटी बजा देता था। घंटी बजते ही लेडी स्मिथके निवासी सजग हो जाते थे और एकदम अपने-आपको आड़में छिपाकर अपनी जान बचा लेते थे।

उसकी बहादुरीकी चर्चा आखिरकार लार्ड कर्जन तक पहुँची, जो उस समय भारतके वाइसराय थे। उन्होंने प्रभुसिंह-को भेंटस्वरूप एक कश्मीरी पोशाक भिजवाई थी।

२२

देश-गमन तथा मेरी श्रद्धा

लड़ाईके कामसे मुक्त होनेके बाद मैंने सोचा कि अब मेरा काम दक्षिण अफ्रीकामें नहीं, बल्कि देशमें है। दक्षिण अफ्रीकामें बैठे-बैठे मैं कुछ-न-कुछ सेवा तो जरूर कर पाता था परन्तु मैंने

देखा कि यहाँ कहीं मेरा मुख्य काम धन कमाना ही न हो जाय।

देशसे मित्र लोग भी देश लौट आनेको आकर्षित कर रहे थे। मुझे भी जँचा कि देश जानेसे मेरा अधिक उपयोग हो सकेगा। नेटालमें मि० खान और मनसुखलाल नाजर थे ही।

मैंने साथियोंसे छुट्टी देनेका अनुरोध किया। बड़ी मुश्किलसे उन्होंने एक शर्तपर छुट्टी स्वीकार की। वह यह कि एक सालके अंदर यहाँके लोगोंको मेरी जरूरत मालूम हो तो मैं फिर दक्षिण अफ्रीका आ जाऊँ। मुझे यह शर्त कठिन मालूम हुई; परन्तु मैं तो प्रेम-पाशमें बँधा हुआ था।

काचे रे तांतणे मने हरजीए बांधी
जेम ताणे तेम तेम ी रे
मने लागी कटारी प्रेमनी।

अर्थात् प्रभुजीने मुझे कच्चे प्रेम-धागेसे बाँध लिया है। ज्यों-ज्यों वह उसे तानते हैं त्यों-त्यों मैं उनकी होती जाती हूँ।

मीराबाईकी यह उपमा न्यूनाधिक अंशमें मुझपर घटित होती थी। पंच भी परमेश्वर ही हैं। मित्रोंकी बातको मैं टाल नहीं सकता था। मैंने वचन देकर इजाजत ली।

इस समय मेरा निकट संबंध प्रायः नेटालके ही साथ था। नेटालके हिन्दुस्तानियोंने मुझे प्रेमामृतसे नहला डाला। स्थान-स्थानपर अभिनंदन-पत्र दिये गये और हर जगहसे कीमती चीजें भेंट की गईं।

१८९६ में जब मैं आया था तब भी भेंटें मिली थीं, पर इस बारकी भेंटों और सभाओंके दृश्योंसे मैं घबराया। भेंटमें सोने-चाँदीकी चीजें तो थी हीं, पर हीरेकी भी थीं।

इन सब चीजोंको स्वीकार करनेका मुझे क्या अधिकार हो सकता है ? यदि मैं मंजूर करलूं तो फिर अपने मनको यह कहकर कैसे मना सकता हूं कि मैं पैसा लेकर लोगोंकी सेवा नहीं करता था ? मेरे मवक्किलोंकी कुछ रकमोंको छोड़कर बाकी सब चीजें

मेरी लोक-सेवाके उपलक्ष्यमें दी गई थीं। पर मेरे मनमें तो मवक्किल और दूसरे साथियोंमें कुछ भेद न था। मुख्य-मुख्य मवक्किल सब सार्वजनिक काममें भी सहायता देते थे।

फिर उन भेंटोंमें एक पचास गिन्नीका हार कस्तूरबाईके लिए था। मगर उसे जो चीज मिली थी वह भी तो मेरी ही सेवाके फलस्वरूप न! अतएव उसे अलग नहीं मान सकते थे।

जिस शामको इनमेंसे मुख्य-मुख्य भेंटें मिलीं, वह रात मैंने एक पागलकी तरह जागकर काटी। कमरेमें इधर-से-उधर टहलता रहा, परन्तु गुत्थी किसी तरह सुलझती न थी। सैंकड़ों रुपयोंकी भेंट न लेना भारी पड़ रहा था, पर ले लेना उससे भी भारी मालूम होता था।

मैं चाहे इन भेंटोंको पचा भी सकता, पर मेरे बच्चे और पत्नी? उन्हें तालीम तो सेवाकी मिल रही थी। सेवाका दाम नहीं लिया जा सकता, यह हमेशा समझाया जाता था। घरमें कीमती जेवर आदि मैं नहीं रखता था। सादगी बढ़ती जाती थी। ऐसी अवस्थामें सोनेकी घड़ियां कौन रखेगा? सोनेकी कंठी और हीरेकी अंगूठियां कौन पहनेगा? गहनोंका मोह छोड़नेके लिए मैं उस समय भी औरोंसे कहता रहता था। अब इन गहनों और जवाहरातको लेकर मैं क्या करूँगा।

मैं इस निर्णयपर पहुँचा कि वे चीजें मैं हरगिज नहीं रख सकता। पारसी रुस्तमजी इत्यादिको इन गहनोंका ट्रस्टी बनाकर उनके नाम एक चिट्ठी तैयार की और सुबह स्त्री-पुत्रादिसे सलाह करके अपना बोझ हलका करनेका निश्चय किया।

मैं जानता था कि पत्नीको समझाना मुश्किल पड़ेगा। मुझे विश्वास था कि इन बालकोंको समझानेमें जरा भी दिक्कत न होगी। अतएव उन्हें अपना वकील बनानेका निश्चय किया।

बच्चे तो तुरन्त समझ गये। वे बोले, "हमें गहनोंसे कुछ मतलब नहीं, ये सब चीजें हमें लौटा देनी चाहिए। और यदि जरूरत होगी तो क्या हम खुद न बना सकेंगे?"

मैं प्रसन्न हुआ। "तो तुम बा—मांको समझाओगे न ?" मैंने पूछा। "जरूर-जरूर ! वह कहां इन गहनोंको पहनने चली हैं। वह रखना चाहेंगी भी तो हमारे लिए न ? पर जब हमें ही इनकी जरूरत नहीं है तब फिर क्यों जिद करने लगीं ?"

परन्तु काम अन्दाजसे ज्यादा मुश्किल साबित हुआ।

"तुम्हें चाहे जरूरत न हो और लड़कोंको भी न हो—बच्चों की क्या, जैसा समझा दें, समझ जाते हैं। मुझे न पहनने दो, पर मेरी बहुओंको जरूरत न होगी ? और कौन कह सकता है कि कल क्या होगा ? जो चीज लोगोंने इतने प्रेमसे दी है, उसे वापस लौटाना ठीक नहीं।" इस प्रकार वाग्धारा शुरू हुई और उसके साथ अश्रुधारा भी। लड़के दृढ़ रहे, और मैं क्यों डिगने लगा।

मैंने धीरेसे कहा—"पहले लड़कोंकी शादी तो हो लेने दो। हम बचपनमें तो इनके विवाह करना चाहते ही नहीं हैं। बड़े होनेपर जो इनका जी चाहे सो करें। फिर हमें क्या गहनों-कपड़ोंकी शौकीन बहुएँ खोजनी हैं ? फिर भी अगर कुछ बनवाना होगा तो मैं कहां चला गया हूँ।"

"हां, जानती हूँ तुमको। वही न हो, जिन्होंने मेरे भी गहने उतरवा लिये हैं ! जब मुझे ही नहीं पहनने देते हो तो मेरी बहुओंको जरूर ला दोगे ! लड़कोंको तो अभीसे वैरागी बना रहे हो। इन गहनोंको मैं वापस नहीं होने दूंगी, और फिर मेरे हारपर तुम्हारा क्या हक ?"

"पर यह हार तुम्हारी सेवाकी खातिर मिला है या मेरी ?"

"जैसे भी हो, तुम्हारी सेवामें क्या मेरी सेवा नहीं है ? मुझसे जो दिन-रात मजूरी कराते हो, क्या वह सेवा नहीं है ? मुझे रुला-रुलाकर जो ऐरों-गैरोंके घरमें रखा और मुझसे सेवा-टहल कराई, वह कुछ भी नहीं ?"

ये सब तीखे बाण थे। कितने ही तो मुझे चुभ रहे थे; पर गहने वापिस लौटानेका तो मैं निश्चय ही कर चुका था। अन्तको

बहुतेरी बातोंमें मैं जैसे-तैसे सम्मति प्राप्त कर सका। १८९६ और १९०१ में मिली सब भेंटें वापिस लौटाईं। उनका ट्रस्ट बनाया गया और लोक-सेवाके लिए उनका उपयोग मेरी अथवा ट्रस्टियों-की इच्छाके अनुसार होनेकी शर्तपर वह रकम बेंकमें रखी गई। इन चीजोंको बेचनेके निमित्तसे मैं बहुत बार रुपया एकत्र कर सका हूँ। आज भी आपत्ति-कोषके रूपमें वह रकम मौजूद है और उसमें वृद्धि होती जाती है।

इस बातके लिए मुझे कभी पश्चात्ताप नहीं हुआ। आगे चलकर कस्तूरबाईको भी उसका औचित्य जँचने लगा। इस तरह हम अपने जीवनमें बहुतेरे लालचोंसे बच गये हैं।

मेरा यह निश्चित मत हो गया है कि लोक-सेवीको जो भेंटें मिलती हैं, वे उसकी निजी चीज कदापि नहीं हो सकतीं।

× × ×

जब मैं स्वदेश पहुँचा तो उस साल कलकत्तेमें होनेवाली कांग्रेसके अवसरपर मुझे लोगोंकी सेवा करनेका काफी अवसर मिला। मैंने स्वयंसेवकोंके समक्ष झाड़ू लगाने और कूड़ा-करकट साफ करनेका उदाहरण प्रस्तुत किया, साथ ही कांग्रेसके एक प्रधान-मंत्री श्रीयुत घोषालके कारकुन और 'बेरा' (नोकर) के काम करनेका सौभाग्य भी मुझे मिला। स्व० गोखलेका मैं चिरकृतज्ञ रहूँगा, जिन्होंने मेरे स्वदेश लौट आनेके बादसे मुझे हमेशा अपना छोटा भाई माना और उन्हींकी कृपासे मुझे कांग्रेसमें दक्षिण अफ्रीकाके बारेमें प्रस्ताव पेश करनेका अवसर मिला। उन्होंने मेरे तमाम कामोंमें गहरी दिलचस्पी ली और मुझे उनसब खास-खास व्यक्तियोंसे परिचित कराया, जिनसे मेरा परिचित होना वह ठीक समझते थे। उन्हें काम करते देखकर खुशी तो होती थी, एक शिक्षा भी मिलती थी। जो-कुछ भी वह करते उसका देशहितसे घनिष्ठ सम्बन्ध होता। उनको इस बातकी बड़ी चिन्ता थी कि मैं बम्बईमें जम जाऊँ और वकालत करते हुए उन्हें सार्वजनिक यानी कांग्रेस-कार्यमें मदद पहुँचाऊँ। मैंने उनकी सलाहकी कद्र की,

लेकिन मुझे बैरिस्टरीके रूपमें अपनी कामयाबीका विश्वास नहीं होता था। मैंने राजकोटमें काम चालू किया और काम ठीक चल निकला था कि हमारे परिवारके उन्हीं शुभचिन्तक मित्र श्री केवलराम मावजी दवेने, जिन्होंने मुझे इंगलैंड भिजवाया था, इस बातपर आग्रह किया कि मैं बम्बईमें जाकर वकालत करूँ।

उन्होंने कहा—"आप तो लोक-सेवा करनेके लिए पैदा हुए हो। इसलिए आपको हम यहाँ काठियावाड़में दफन नहीं होने देंगे। बोलो, कब जा रहे हो?"

"नेटालसे मेरे कुछ रुपये आने बाकी हैं, उनके आनेपर चला जाऊँगा।"

दो-एक सप्ताहमें रुपये आगए और मैं बम्बई चला गया। वहाँ मैंने पेन, गिल्बर्ट और सयानी के आफिसमें, 'चेंबर' किराए पर लिये और वहीं जम गया।

आफिसके साथ ही मैंने गिरगाँवमें घर लिया, परन्तु ईश्वरने मुझे स्थिर नहीं रहने दिया। घर लिये बहुत दिन नहीं हुए थे कि मेरा दूसरा लड़का मणिलाल बीमार हो गया। काले-ज्वरने उसे घेर लिया था। बुखार उतरता ही नहीं था। उसे घबराहट तो थी ही, पर रातको सन्निपातके लक्षण भी दिखाई देने लगे। इससे पहले बचपनमें उसे चेचक भी जोरोंकी निकल चुकी थी।

डाक्टरकी सलाह ली तो उन्होंने कहा—"इसके लिए दवाई काम नहीं दे सकती, अब तो इसे अण्डे और मुर्गीका शोरबा देनेकी जरूरत है।"

मणिलालकी उम्र दस साल की थी, उससे तो मुझे इस विषयमें क्या पूछना था? उसका संरक्षक तो मैं ही था और मुझे ही निर्णय करना था। डाक्टर एक पारसी सज्जन थे। मैंने कहा—"डाक्टर, हम तो सब अन्नाहारी हैं, मेरा विचार तो इसे इनमेंसे एक भी वस्तु देनेका नहीं है। दूसरी कोई वस्तु न

बतलायेंगे ?"

डाक्टर बोला—"तुम्हारे लड़केकी जान खतरेमें है। दूध और पानी मिलाकर दिया जा सकता है, पर उससे पूरा संतोष नहीं हो सकता। तुम जानते हो कि मैं तो बहुत-से हिन्दु-परिवारोंमें जाया करता हूँ; पर दवाके लिए तो हम जो चाहते हैं वही उन्हें देते हैं और वे उसे लेते भी हैं। मैं समझता हूँ कि तुम भी अपने लड़केके साथ ऐसी सख्ती न करो तो अच्छा होगा।"

"आप जो कहते हैं वह तो ठीक है, और आपको ऐसा कहना ही चाहिए, पर मेरी जिम्मेदारी बहुत बड़ी है। यदि लड़का बड़ा होता तो जरूर उसकी इच्छा जाननेका प्रयत्न भी करता और जो वह चाहता वही उसे करने देता, पर यहां तो इसके लिए मुझे ही विचार करना पड़ रहा है। मैं तो समझता हूँ कि मनुष्यके धर्मकी कसौटी ऐसे ही समय होती है। चाहे ठीक हो चाहे गलत, मैंने तो इसको धर्म माना है कि मनुष्यको मांसादिक न खाना चाहिए। जीवनके साधनोंकी भी सीमा होती है। जीनेके लिए भी अमुक वस्तुओंको हमें नहीं ग्रहण करना चाहिए। मेरे धर्मकी मर्यादा मुझे और मेरे परिवारके लोगोंको भी ऐसे समयपर मांस इत्यादि खानेसे रोकती है। इसलिए आप जिस खतरेको देखते हैं, मुझे उसे उठाना ही चाहिए, पर आपसे मैं एक बात चाहता हूँ। आपका इलाज तो मैं नहीं करूंगा पर मुझे नाड़ी और हृदयको देखना नहीं आता है। जल-चिकित्साकी मुझे थोड़ी जानकारी है। उन उपचारोंको मैं करना चाहता हूँ; परन्तु जो आप नियमसे मणिलालको देखने आते रहें और उसके शरीरमें होनेवाले परिवर्तनोंसे मुझे वाकिफ करते रहेंगे तो मैं आपका उपकार मानूंगा।"

सज्जन डाक्टर मेरी कठिनाइयोंको समझ गये और इच्छानुसार उन्होंने मणिलालको देखनेके लिए आना मंजूर कर लिया।

यद्यपि मणिलाल अपनी राय कायम करने लायक नहीं था, तो भी डाक्टरके साथ जो मेरी बातचीत हुई थी, वह उसे मैंने

सुनाईं और अपने विचार प्रकट करनेको कहा।

"आप बेखटके जल-चिकित्सा कीजिए। मैं शोरवा नहीं पीऊंगा और न अण्डे खाऊंगा।" उसके इन वाक्योंसे मैं प्रसन्न हो गया, यद्यपि मैं जानता था कि अगर मैं उसे दोनों चीजें खानेको कहता तो वह खा भी लेता।

मैं कूनेकी जल-चिकित्साको जानता था, उसका उपयोग भी किया था। बीमारीमें उपवासका स्थान बड़ा है, यह मैं जानता था। कूनेकी पद्धतिके अनुसार मैंने मणिलालको कटि-स्नान कराना शुरू किया। तीन मिनटसे ज्यादा उसे मैं टबमें नहीं रखता। तीन दिन तो सिर्फ संतरेके रसमें पानी मिलाकर देता रहा और उसीपर रखा।

बुखार दूर नहीं होता था और रातको वह कुछ-कुछ बड़बड़ाता भी था। बुखार १०४ डिग्रीतक हो जाता था। मैं घबराया। यदि बच्चेको खो बैठा तो दुनियामें लोग मुझे क्या कहेंगे? बड़े भाई क्या कहेंगे? दूसरे डाक्टरको क्यों न बुलाया जाय? किसी वैद्यको क्यों न बुलाऊं? मां-बापको अपनी अधूरी अक्ल आजमानेका क्या हक है?

ऐसे विचार उठते। पर ये विचार भी उठते—"जीव! जो तू अपने लिए करता है, वह लड़केके लिए भी करेगा तो परमेश्वर संतोष मानेंगे। तुझे जल-चिकित्सापर श्रद्धा है, दवापर नहीं। डाक्टर जीवनदान तो देते नहीं। उनकेभी तो आखिर प्रयोग ही होते हैं न! जीवनकी डोरी तो एकमात्र ईश्वरके ही हाथमें है। ईश्वरका नाम ले और उसपर श्रद्धा रख। अपने मार्गको न छोड़।"

मनमें इस तरह उथल-पुथल मचती रही। रात हुई। मैं मणिलालको अपने पास लेकर सोया हुआ था। मैंने निश्चय किया कि उसे भीगी चादरकी पट्टीमें रखा जाय। मैं उठा, कपड़ा लिया, ठंडे पानीमें उसे डुबोया और निचोड़कर उसमें पैरसे लेकर सिर-तक उसे लपेट दिया और ऊपरसे दो कम्बल ओढ़ा दिये। सिरपर

भीगा हुआ तौलिया भी रख दिया। शरीर तवेकी तरह तप रहा था, पसीना तो आता ही न था।

मैं खूब थक गया था। मणिलालको उसकी मांको सौंपकर मैं आध घंटेके लिए चौपाटीकी तरफ गया कि खुली हवामें ताजगी और शांति प्राप्त करूं। रातके दस बजे होंगे। मनुष्योंकी आमदरफ्त कम होगई थी, पर मुझे इसका खयाल न था। मैं अपने विचार-सागर में गोते लगा रहा था। "हे ईश्वर! इस धर्म-संकटमें तू मेरी लाज रखना।" मुंहसे 'राम-राम' की रटन तो चल ही रही थी। कुछ देर बाद वापस लौटा। मेरा कलेजा धड़क रहा था। घरमें घुसते ही मणिलालने आवाज दी—"बापू आ गये?"

"हाँ, भाई!"

"मुझे इसमेंसे निकालिये न? मैं तो मारे आगके मरा जा रहा हूँ।"

"क्यों, क्या पसीना आ रहा है?"

"अजी, मैं तो पसीनेसे तर हो गया। अब तो मुझे निकालिये?"

मैंने मणिलालका सिर देखा। उसपर मोतीकी तरह पसीनेकी बूंदें चमक रही थीं। बुखार कम हो रहा था। ईश्वरको धन्यवाद दिया।

"मणिलाल, घबरा मत, अब तेरा बुखार चला जायगा; पर कुछ और पसीना आ जावे तो कैसा?" मैंने उससे कहा।

उसने कहा—"नहीं बापू! अब तो मुझे छुड़ाइये। फिर देखा जायगा!"

मुझे धैर्य आ गया था। इसलिए बातों-ही-बातोंमें कुछ मिनट लगा दिये। सिरसे पसीनेकी धारा बह चली। मैंने चादरको अलग किया और शरीरको पोंछकर सुखा दिया। बाप-बेटे दोनों सो गये और खूब सोये।

सुबह देखा तो मणिलालका बुखार बहुत कम हो गया था।

दूध, पानी तथा फलोंपर चालीस दिनतक रखा। मैं निश्चित हो गया था। बुखार हठीला था, पर वह काबूमें आ गया था। आज मेरे लड़कोंमें मणिलाल ही सबसे अधिक स्वस्थ और मजबूत है।

इसका निर्णय कौन कर सकता है कि यह रामजीकी कृपा है या जलचिकित्सा, अल्पाहार अथवा और किसी उपाय की? भले ही सब अपनी-अपनी श्रद्धाके अनुसार बरतें, पर उस वक्त मेरी तो ईश्वरने लाज रखी। यही मैंने माना, और आज भी मानता हूँ।

२३

फिर दक्षिण अफ्रीका

पर जैसे ही मैंने बम्बईमें स्थिर होनेका निश्चय किया और कुछ स्वस्थताका अनुभव करने लगा कि एकाएक दक्षिण अफ्रीकासे तार आ पहुँचा—"चेम्बरलेन यहाँ आ रहे हैं, तुम्हें शीघ्र आना चाहिए।" मुझे अपने वचन याद थे, अतः मैं अपना आफिस समेट-समाटकर रवाना होगया।

दक्षिण अफ्रीका पहुँचते ही मुझे जैसी वहाँकी दुःखदायी राजनीतिक हालत मिली, पाठकोंको उसके विस्तारमें डालनेकी जरूरत नहीं। बोअर-युद्धके समय की गई प्रवासी भारतीयोंकी सेवाओंको भुलाया जा चुका था। भारतीयोंकी हालत दिन-पर-दिन बिगड़ती जा रही थी और उनपर नई-नई मुसीबतें लादी जा रही थीं। वहाँ जाते ही मैंने समझ लिया कि अगर मुझे सचमुच ही वहाँ रहनेवाले स्वदेशवासियोंकी सेवा करनी है, तो मुझे अब दक्षिण अफ्रीकामें काफी अर्से तक रहना होगा। मैंने जोहान्सबर्गमें दफ्तर खोलनेका निश्चय किया। कुछ परिश्रम करनेपर नगरके अच्छे मुहल्लेमें मुझे कमरे रहनेको मिल गये।

इधर तो कौमकी सेवामें अपनेको लगा देनेका निश्चय किया और उधर गीताको नये सिरेसे पढ़ने लगा, जिससे अन्तर्दृष्टि

बढ़ने लगी।

इस बार भी कुछ थियाँसफिस्ट मित्रोंके साथ ही मैंने गीताका अध्ययन किया, लेकिन पहलेसे कहीं ज्यादा गहराई और मनोयोग-के साथ। मैंने गीताके श्लोक याद करनेका प्रयत्न भी किया और मुझे याद है कि मैंने कम-से-कम तेरह अध्याय कंठस्थ कर लिये थे।

इस गीता-पाठका असर मेरे सहाध्यायियोंपर तो जो कुछ पड़ा हो वह वे ही बता सकते हैं, किन्तु मेरेलिए तो गीता आचारकी एक अचूक मार्ग-दर्शिका बन गई है। उसे मेरा धार्मिक कोष ही कहना चाहिए। अपरिचित अंग्रेजी शब्दोंके हिज्जे या अर्थ देखनेके लिए जिस तरह मैं अंग्रेजी कोष खोलता, उसी तरह आचार-सम्बन्धी कठिनाइयों और उसकी अटपटी गुत्थियोंको गीताके द्वारा सुलझाता। उसके 'अपरिग्रह' 'समभाव' इत्यादि शब्दोंने तो मुझे जैसे पकड़ ही लिया। यही धुन रहती थी कि समभाव कैसे प्राप्त करूँ। कैसे उसका पालन करूँ। हमारा अपमान करनेवाला अधिकारी, रिश्वतखोर, चलते रास्ते विरोध करनेवाले, कल जिनका साथ था ऐसे साथी, उनमें और उन सज्जनोंमें, जिन्होंने हमपर भारी उपकार किया है, क्या कोई भेद नहीं है? अपरिग्रहका पालन किस तरह सम्भव है? क्या यह हमारी देह ही हमारे लिए कम परिग्रह है? स्त्री-पुरुष आदि यदि परिग्रह नहीं है तो फिर क्या है? क्या पुस्तकोंसे भरी इन अलमारियोंमें आग लगा दूं? पर यह तो घर जलाकर तीर्थ करना हुआ। अन्दरसे तुरन्त उत्तर मिला—"हाँ, घरबारको खाक किये बिना तीर्थ नहीं किया जा सकता।" इसमें अंग्रेजी कानूनके अध्ययनने मेरी सहायता की। स्नेल-रचित कानूनके सिद्धांतोंकी चर्चा याद आई। 'ट्रस्टी' शब्दका अर्थ गीताके अध्ययनकी बदौलत अच्छी तरह समझमें आया। कानून-शास्त्रके प्रति मनमें आदर बढ़ा। उसके अन्दर भी मुझे धर्मका तत्त्व दिखाई पड़ा। 'ट्रस्टी' यों करोड़ोंकी सम्पत्ति रखते हैं फिर भी उसकी एक पाईपर उनका अधिकार नहीं होता। इसी तरह

मुमुक्षुको अपना आचरण रखना चाहिए—यह पाठ मैंने गीतासे सीखा। अपरिग्रही होनेके लिए, समभाव रखनेके लिए हेतुका और हृदयका परिवर्तन आवश्यक है, यह बात मुझे दीपककी तरह स्पष्ट दिखाई देने लगी। मैंने बम्बईमें एक बीमा-एजेंटके समझानेमें आकर अपना दस हजारका बीमा करा लिया था। जब ये विचार मेरे मनमें उठे तो तुरन्त रेवाशंकर भाईको बम्बई लिखा कि बीमेकी पालिसी रद्द कर दी जाय। कुछ रुपया वापस मिल जाय तो ठीक, नहीं तो खैर। बाल-बच्चों और गृहिणीकी रक्षा वह ईश्वर करेगा, जिसने उनको और हमको पैदा किया है। यह मेरे उस पत्रका आशय था। पिताके समान अपने बड़े भाईको लिखा—"आजतक मैं जो बचाता रहा, आपके अर्पण करता रहा। अब मेरी आशा छोड़ दीजिए। अब जो कुछ बच रहेगा, वह यहींके सार्वजनिक कामोंमें लगेगा।"

इसी समय (१९०४) मैंने 'इंडियन ओपीनियन' नामक एक साप्ताहिक पत्रके सम्पादनका भार अपने ऊपर ले लिया। उसमें दक्षिण अफ्रीकाके प्रवासी भारतीयोंके हितोंसे सम्बन्ध रखनेवाली समस्याओंकी चर्चा होती थी। थोड़े ही दिनोंमें मैंने यह जान लिया कि बिना आर्थिक मददके पत्र चलना असम्भव है। मैं अपनी बचत उसमें लगाता रहा। यहाँतक कि ऐसा करते-करते मैं अपना सबकुछ इसीमें खपाने लगा। जिस प्रकार आज 'यंग इंडिया' और 'नवजीवन' मेरे जीवनके प्रतिबिंब हैं, उसी प्रकार 'इंडियन ओपीनियन' भी था। उसमें मैं प्रति सप्ताह अपनी आत्माको उँडेलता और उस चीजको समझानेका प्रयत्न करता जिसे मैं 'सत्याग्रह' के नामसे पहचानता था। जेलके दिनोंको छोड़कर दस वर्षतक अर्थात् १९१४ तकके 'इंडियन ओपीनियन' का शायद ही कोई अंक ऐसा गया हो, जिसमें मैंने एक भी शब्द बिना विचारे, बिना तोले, लिखा हो। यह अखबार मेरेलिए संयमकी तालीमका काम देता था। मैं जानता हूं कि उसके लेखोंकी बदौलत टीकाकारोंको भी अपनी कलमपर अंकुश रखना पड़ता था। यदि यह अखबार न

होता तो सत्याग्रह-संग्राम न चल सकता। पाठक इसे अपना पत्र समझते थे और इसमें उन्हें सत्याग्रह-संग्राम तथा दक्षिण अफ्रीका-स्थित हिन्दुस्तानियोंकी दशाका चित्र दिखाई पड़ता था।

इसी पत्रके स्तम्भोंमें मैंने आहार-शास्त्रपर एक लेख-माला लिखी थी, जो बादमें संकलित होकर पुस्तकाकार छपी थी और जिसके अंग्रेजी अनुवाद 'गाइड टु हेल्थ' ने पूरब और पश्चिमके बहुतेरे पाठकोंकी जिन्दगीको बहुत ज्यादा बदल डाला है।

२४

एक पुस्तकका चमत्कारी प्रभाव

कुछ खास-खास किताबोंका असर मेरे जीवनपर बहुत गहरा पड़ा है; लेकिन जिस पुस्तकने मेरे जीवनमें सबसे ज्यादा क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया है, वह रस्किनकी 'अनटु दिस लास्ट' पुस्तक है।

१९०४ में 'इंडियन ओपीनियन' का कारोबार व्यवस्थित करनेके लिए मेरा डरबन जाना हुआ। मि० एलबर्ट वेस्ट मेरे एक अंग्रेज मित्र थे। वह छापेखानेका काम करते थे। मेरे कहनेसे वह अपना काम छोड़कर 'इंडियन ओपीनियन' के हिसाब-किताब को ठीक-ठीक करनेके लिए डरबन गए और वहाँ जाकर मुझे सूचित किया कि पत्रकी आर्थिक दशा बहुत चिंताजनक है।

वेस्टका ऐसा पत्र पाकर मैं नेटालके लिए रवाना हुआ। मिस्टर पोलक, जो मेरे साथी हो चुके थे, स्टेशनपर मुझे पहुँचाने आये और रस्किनकी उपर्युक्त पुस्तक मेरे हाथमें रखकर बोले—"यह पुस्तक पढ़ने लायक है, आपको जरूर पसंद आयेगी।"

पुस्तकको मैंने जो एक बार पढ़ना शुरू किया तो खतम किये बिना न छोड़ सका। उसने मेरे हृदयपर अधिकार कर लिया। जोहान्सबर्गसे नेटाल चौबीस घण्टेका रास्ता है। ट्रेन शामको

डरबन पहुँचती थी। पहुँचनेके बाद रातभर नींद नहीं आई। इस पुस्तकके विचारोंके अनुसार जीवन बनानेकी धुन लग रही थी।

मेरे जीवनमें यदि किसी पुस्तकने तत्काल महत्त्वपूर्ण रचनात्मक परिवर्तन कर डाला हो तो वह यही पुस्तक है। बादको मैंने इसका गुजरातीमें अनुवाद किया था और वह 'सर्वोदय'[१] के नामसे प्रकाशित हुआ है।

मेरा यह विश्वास है कि जो चीज मेरे अन्तरतरमें बसी हुई थी, उसका स्पष्ट प्रतिबिंब मैंने रस्किनके इस ग्रंथमें देखा और इस कारण उसने मुझपर अपना साम्राज्य जमा लिया एवं अपने विचारोंके अनुसार मुझसे आचरण करवाया। हमारी अन्तस्थ सुप्त भावनाओंको जाग्रत करनेकी सामर्थ्य जिसमें होती है, वह कवि है। सब कवियोंका प्रभाव सबपर एक-सा नहीं होता, क्योंकि सब लोगोंमें सभी अच्छी भावनाएँ एक मात्रामें नहीं होतीं।

'सर्वोदय' के सिद्धांतोंको मैं इस प्रकार समझा—

१. सबके भलेमें अपना भला है।

२. वकील और नाई दोनोंके कामकी कीमत एक-सी होनी चाहिए; क्योंकि आजीविकाका हक दोनोंका एक-सा है।

३. मजदूरका और किसानका, अर्थात् परिश्रमका जीवन ही सच्चा जीवन है।

पहली बात तो जानता था। दूसरीका मुझे आभास हुआ करता था; पर तीसरी तो मेरे विचार-क्षेत्रमें आई तक न थी। पहली बातमें पिछली दोनों बातें समाविष्ट हैं, यह बात 'सर्वोदय' से मुझे सूर्य-प्रकाशकी तरह स्पष्ट दिखाई देने लगी। सुबह होते ही मैं उसके अनुसार अपने जीवनको बनानेके लिए तैयार हो गया।

---

१. हिन्दी में इसी नामसे 'सस्ता साहित्य मंडल' से प्रकाशित हुई है। दाम ।=)

२५
फिनिक्सकी स्थापना

मैंने सबसे पहले वेस्टसे इस सम्बन्धमें बातें कीं। 'सर्वोदय' का जो प्रभाव मेरे मनपर पड़ा, वह मैंने उन्हें कह सुनाया और सुझाया कि 'इंडियन ओपीनियन' को एक खेतपर ले जायें तो कैसा ? वहाँ सब एकसाथ रहें, एक-सा भोजन-खर्च लें, अपने लिए सब खेती कर लिया करें और बचतके समयमें 'इंडियन ओपीनियन' का काम करें। वेस्टको यह बात पसंद आई। भोजन-खर्चका हिसाब लगाया गया तो कम-से-कम तीन पौंड प्रति मनुष्य आया। तुरन्त ही मैंने अखबारमें विज्ञापन दिया कि डरबनके नजदीक किसी भी स्टेशनके पास जमीनकी आवश्यकता है। उत्तरमें फिनिक्सकी जमीनका संदेशा आया। वेस्ट और मैं जमीन देखने गये और सात दिनके अन्दर बीस एकड़ जमीन ले ली। उसमें एक छोटा-सा पानीका झरना भी था। कुछ आमके और संतरेके पेड़ थे। पास ही ८० एकड़का एक और टुकड़ा था। उसमें फलोंके पेड़ ज्यादा थे और एक झोंपड़ा भी था। कुछ समयके बाद उसे भी खरीद लिया। दोनोंके मिलकर एक हजार पौंड लगे। सेठ पारसी रुस्तमजी मेरे ऐसे तमाम साहसके कामोंमें साथी होते थे। उन्हें मेरी यह तजवीज पसन्द आई। इसलिए उन्होंने अपने एक गोदामके टीन वगैरा, जो उनके पास पड़े थे, मुफ्तमें हमें दे दिये। कितने ही हिन्दुस्तानी बढ़ई और राज, जो मेरे साथ लड़ाईमें थे, इसमें मदद देने लगे और कारखाना बनने लगा। एक महीनेमें मकान तैयार हो गया जो ७५ फुट लम्बा और ५० फुट चौड़ा था। वेस्ट वगैरा अपने शरीरको खतरेमें डालकर भी बढ़ई आदिके साथ रहने लगे। फिनिक्समें घास खूब थी और आबादी बिलकुल नहीं थी। इससे साँप आदिका उपद्रव रहता था और खतरा भी था। धीरे-धीरे हमने वहाँकी सफाई की और उसे रहने लायक बना लिया। हम कोई एक

सप्ताह हीमें बहुतेरा सामान गाड़ियोंपर लादकर फिनिक्स चले गये। डरबन और फिनिक्समें तेरह मीलका फासला था। मेरे साथ जो-जो रिश्तेदार वगैरा वहाँ गये थे और व्यापार आदिमें लग गए थे, उन्हें फिनिक्समें दाखिल करनेका प्रयत्न मैंने किया। कितने ही लोगोंको मेरी बात जँच गई। इन सबमें आज तो (अब स्वर्गस्थ) मगनलाल गांधीका ही नाम मैं चुनकर पाठकोंके सामने रखता हूँ क्योंकि दूसरे लोग जो राजी हुए थे, वे थोड़े-बहुत समय फिनिक्समें रहकर फिर धन-संचयके फेरमें पड़ गए। मगनलाल गांधी तो अपना काम छोड़कर जो मेरे साथ आये सो अबतक रह रहे हैं और अपने बुद्धि-बल, त्याग, शक्ति, एवं अनन्य भक्ति-भावसे मेरे आंतरिक प्रयोगोंमें मेरा साथ देते हैं एवं मेरे मूल साथियोंमें आज उनका स्थान सबमें प्रधान है। फिर एक स्वयं-शिक्षित कारीगरके रूपमें तो उनका स्थान मेरी दृष्टिमें अद्वितीय है।

इस तरह सन् १९०४ में फिनिक्सकी स्थापना हुई और विघ्नों और कठिनाइयोंके रहते हुए भी फिनिक्स-संस्था एवं 'इंडियन ओपीनियन' दोनों आजतक चल रहे हैं, परन्तु इस संस्थाके आरम्भकालकी मुसीबतें और उस समयकी आशा-निराशाएँ जानने लायक हैं।

फिनिक्समें 'इंडियन ओपीनियन' का पहला अंक प्रकाशित करना आसान साबित न हुआ। यदि दो बातोंमें मैंने पहले हीसे सावधानी न रखी होती तो अंक एक सप्ताह बन्द रहता या देरसे निलकता। इस संस्थामें एंजिनसे चलनेवाले यंत्रोंको मंगानेकी मेरी इच्छा कम ही रही थी। मेरी भावना यह थी कि जब हम खेती भी खुद हाथोंसे ही करना चाहते हैं,तब छापेकी कल भी ऐसी ही क्यों न लाई जाय जो हाथसे चल सके, पर उस समय यह अनुभव हुआ कि यह बात सध न सकेगी। इसलिए आयल एंजिन मंगवाया गया था; परन्तु मुझे यह खटका रहा कि कहीं वहाँपर यह तेल-यंत्र बन्द न हो जाय, सो मैंने वेस्टको सुझाया कि ऐसे समयके

लिए कोई और काम-चलाऊ साधन भी हम अभीसे जुटा रखें तो अच्छा। इसलिए उन्होंने हाथसे चलानेका भी एक चक्का मँगा रखा था और ऐसी तजवीज कर रखी थी कि मौका पड़नेपर उससे छापेकी कल चलाई जा सके। 'इंडियन ओपीनियन' का आकार दैनिक पत्रके बराबर लंबा-चौड़ा था। अगर बड़ी कल कहीं अड़ जाय तो ऐसी सुविधा वहाँ नहीं थी कि इतने बड़े आकारका पत्र छापा जा सके। उससे पत्रके उस अंकके बंद रहनेका ही अंदेशा रहता। इस दिक्कतको दूर करनेके लिए अखबारका आकार छोटा कर दिया कि कठिनाईके समयपर छोटी कलको भी पाँवसे चलाकर अखबार, थोड़े ही पन्नेका क्यों न हो, प्रकाशित हो सके।

आरंभ-कालमें 'इंडियन ओपीनियन' की प्रकाशन-तिथि की अगली रातको सबको थोड़ा-बहुत जागरण करना ही पड़ता था। पन्नोंको भाँजनेमें छोटे-बड़े सब लोग लग जाते और रातको दस-बारह बजे यह काम खतम होता। परन्तु पहली रात तो इस प्रकार बीती, जिसे कभी भूल ही नहीं सकते। पन्नोंका चौखटा तो मशीन-पर कस गया, पर एंजिन अड़ गया, उसने चलनेसे इन्कार कर दिया। एंजिनको जमाने और चलानेके लिए एक एंजिनियर बुलाया गया था। उसने और वेस्टने खूब सिर खपाया, पर एंजिन टस-से-मस न हुआ। सब अपना-सा मुँह लेकर बैठ गये। अन्तमें वेस्ट निराश होकर मेरे पास आये। उनकी आँखें आँसुओंसे छलछला रही थी। उन्होंने कहा—"अब आज तो एंजिनके चलनेकी आशा नहीं और इस सप्ताहका अखबार हम समयपर न निकाल सकेंगे।"

"अगर यही बात है तब तो अपना कुछ बस नहीं; पर इस तरह आँसू बहानेकी कोई आवश्यकता नहीं। और कुछ कोशिश कर सकते हो तो कर देखो। हाँ, वह हाथसे चलानेका चक्का तो हमारे पास रखा है; वह किस दिन काम आयेगा?" यह कहकर मैंने उन्हें आश्वासन दिया।

वेस्टने कहा—"पर उस चक्केको चलानेवाले आदमी हमारे

पास कहाँ हैं ? हम लोग जितने हैं उतनेसे वह नहीं चल सकता, उसे चलानेके लिए बारी-बारीसे चार-चार आदमियोंकी जरूरत है और इधर हम लोग थक भी चुके हैं।"

बढ़ई लोगोंका काम अभी पूरा नहीं हुआ था, इससे वे लोग अभी छापेखानेमें ही सो रहे थे। उनकी तरफ इशारा करके मैंने कहा—"ये मिस्त्री लोग मौजूद हैं, इनकी मदद क्यों न लें ? और आजकी रात-भर हम सब जागकर छापनेकी कोशिश करेंगे। बस, इतना ही कर्त्तव्य हमारा और बाकी रह जाता है।"

"मिस्त्रियोंको जगानेकी और उनसे मदद माँगनेकी मेरी हिम्मत नहीं होती। हमारे जो लोग थक गये हैं, उनसे भी कैसे कहूँ ?"

"यह काम मेरे जिम्मे रहा।" मैंने कहा।

"तब तो मुमकिन है कि सफलता मिल जाय।"

मैंने मिस्त्रियोंको जगाया और उनकी मदद माँगी, मुझे उनकी खुशामद नहीं करनी पड़ी। उन्होंने कहा—"वाह ! ऐसे वक्त यदि हम काम न आये तो हम आदमी क्या ? आप आराम कीजिए, हम लोग चक्का चलायेंगे। हमें इसमें कोई मेहनत नहीं है।" और इधर छापेखानेके लोग तैयार थे ही।

अब तो वेस्टके हर्षका पार न रहा। वह काम करते-करते भजन गाने लगे। चक्का चलानेमें मैंने भी मिस्त्रियोंका साथ दिया और दूसरे लोग भी बारी-बारीसे चलाने लगे। साथ ही पन्ने भी छपने लगे।

सुबहके सात बजे होंगे। मैंने देखा कि अभी बहुत काम बाकी पड़ा है। मैंने वेस्टसे कहा—"अब हम एंजिनियरको क्यों न जगा लें ? अब दिनकी रोशनीमें वह और सिर खपा देखे। अगर एंजिन चल जाय तो अपना काम समयपर पूरा हो सकता है।"

वेस्टने एंजिनियरको जगाया। वह उठ खड़ा हुआ और एंजिनके कमरेमें गया। शुरू करते ही एंजिन चल निकला। प्रेस हर्ष-नादसे गूंज उठा। सब कहने लगे, "यह कैसे हो गया ? रातको

इतनी मेहनत करनेपर भी नहीं चला और अब हाथ लगते ही इस तरह चल पड़ा, मानो इसमें कुछ बिगड़ा ही न था।" वेस्टने या एंजिनियरने जवाब दिया—"इसका उत्तर देना कठिन है। ऐसा जान पड़ता है मानो यंत्र भी हमारी तरह आराम चाहते हैं। कभी-कभी तो उनकी भी हालत ऐसी ही देखी जाती है।"

मैंने तो यह माना कि एंजिनका न चलना हमारी परीक्षा थी और ऐन मौकेपर चल जाना हमारी शुद्ध मेहनतका शुभ फल था।

इसका परिणाम यह हुआ कि 'इंडियन ओपीनियन' नियत समयपर स्टेशन पहुँच गया और हम सबकी चिंता मिटी।

हमारे इस आग्रहका फल यह हुआ कि 'इंडियन ओपीनियन' की नियमितताकी छाप लोगोंके दिलपर पड़ी और फिनिक्समें मेहनतका वातावरण फैला। इस संस्थाके जीवनमें ऐसा भी एक युग आगया था जब जान-बूझकर एंजिन बन्द रखा गया था और दृढ़तापूर्वक हाथके चक्केसे ही काम चलाया गया था। मैं कह सकता हूं कि फिनिक्सके जीवनमें यह ऊँचे-से-ऊंचा नैतिक काल था।

यह काम अभी ठिकाने लगा ही न था, मकान भी अभी तैयार न हुए थे कि इतनेमें ही इस नये रचे कुटुम्बको छोड़कर मुझे जोहान्सबर्ग भागना पड़ा। जोहान्सबर्ग आकर मैंने पोलकको इस महत्त्वपूर्ण परिवर्तनकी सूचना दी। अपनी दी हुई पुस्तकका यह परिणाम देखकर उनके आनन्दकी सीमा न रही।

उन्होंने 'क्रिटिक' (पत्र) के मालिकको एक महीनेका नोटिस देकर अपना इस्तीफा पेश कर दिया। मियाद खतम होनेपर वह फिनिक्स आ पहुँचे और हमारे कुटुम्बी बनकर वहीं बस गये।

पर खुद मैं ही उन्हें वहाँ अधिक समयतक न रख सका। जोहान्सबर्गके दफ्तरके कामका बोझ मुझ अकेलेके बसका न था। इसलिए मैंने पोलकसे दफ्तर में रहने और वकालत करनेके

लिए कहा। इसमें मैंने यह सोचा था कि उनके वकील हो जानेके बाद अन्तको हम दोनों फिनिक्समें जा पहुंचेंगे; परन्तु हमारी ये सब कल्पनाएँ अन्तमें झूठी साबित हुईं। काम इतना बढ़ गया कि मैं फिनिक्स न जा सका और मुझे इसी बातसे संतोष करना पड़ा कि मैं अपने जीवनको और गृहस्थी को 'सर्वोदय' के आदर्शोंके अनुसार ढाल सका।

एक बैरिस्टरके घरमें जितनी सादगी रखी जा सकती थी, उतनी रखी गई। हर काम हाथसे करनेका शौक बढ़ा और उसमें बालकोंको भी शामिल करनेका उद्योग किया गया।

बाजार से रोटी (डबलरोटी) खरीदनेके बदले घरमें हाथसे बिना खमीरकी रोटी बनाना शुरू किया। ऐसी रोटीमें मिलका आटा काम नहीं दे सकता था। फिर मिलके आटेके बजाय हाथका आटा इस्तेमाल करनेमें सादगी, तन्दुरुस्ती और धन, सबकी रक्षा होती थी। इसलिए सात पौंड खर्च करके हाथसे आटा पीसनेकी एक चक्की खरीदी। इसका पहिया भारी था, इसलिए चलानेमें एकको जरा दिक्कत होती थी और दो आदमी आसानीसे चला सकते थे। चक्की चलानेका काम खासकर पोलक, मैं और बच्चे करते थे। यह कसरत बालकोंके लिए बहुत अच्छी साबित हुई। घर साफ रखनेके लिए एक नौकर था। पाखाना उठा ले जानेके लिए म्युनिसिपैलिटीका नौकर आता था, परन्तु पाखानेका कमरा साफ रखना, बैठक धोना वगैरा काम नौकरसे नहीं लिया जाता था और न इसकी आशा ही रखी जाती थी। यह काम हम लोग खुद करते थे, क्योंकि उससे भी बच्चोंको तालीम मिलती थी। इसका फल यह हुआ कि मेरे किसी भी लड़केको शुरूसे ही पाखाना साफ करनेकी झिझक न रही और आरोग्यके सामान्य नियम भी वे सहज ही सीख गये। जोहान्सबर्गमें कोई बीमार तो शायद ही पड़ता, परन्तु यदि कोई बीमार होता तो उसकी सेवा आदिमें बालक अवश्य शामिल होते और वे इस कामको बड़ी खुशीसे करते। यह तो नहीं कह सकते कि उनके

अक्षर अर्थात् पुस्तककी शिक्षाकी मैंने परवाह न की, परन्तु मैंने उसका त्याग करनेमें कुछ संकोच नहीं किया। इस कमीके लिए मेरे लड़के मेरी शिकायत कर सकते हैं और कई बार उन्होंने अपना असंतोष प्रदर्शित भी किया है। मैं मानता हूँ कि उसमें कुछ अंशतक मेरा दोष है। उन्हें पुस्तककी शिक्षा देनेकी इच्छा मुझे बहुत हुआ करती, मैं कोशिश भी करता; परन्तु इस काममें हमेशा कुछ-न-कुछ विघ्न आ खड़ा होता। उसके लिए घरपर दूसरी शिक्षाका प्रवन्ध नहीं किया था। इसलिए मैं उन्हें अपने साथ दफ्तर ले जाता। दफ्तर ढाई मील था। इसलिए सुबह-शाम मिलकर पाँच मील की कसरत उनको और मुझे हो जाया करती। रास्ता चलते हुए उन्हें कुछ सिखानेकी कोशिश करता, पर वह भी तभी जब दूसरे कोई साथ चलनेवाले न होते। दफ्तरमें मवक्किलों और मुंशियोंके सम्पर्कमें वे आते, मैं बता देता था तो कुछ पढ़ते, इधर-उधर घूमते, बाजारसे कोई सामान-सौदा लाना होता तो लाते। सबसे बड़े लड़के हरीलालको छोड़कर सब बच्चे इसी तरह परवरिश पा गये। हरीलाल देशमें रह गया था। यदि मैं अक्षर-ज्ञानके लिए एक घंटा भी नियमित रूपसे दे पाता तो मैं मानता कि उन्हें आदर्श शिक्षण मिला; किन्तु मैं यह नियम न रख सका, इसका दुःख उनको और मुझको रह गया है। सबसे बड़े बेटेने तो अपने जीकी जलन मेरे तथा सर्वसाधारण-के सामने प्रकट की है। दूसरोंने अपने हृदयकी उदारतासे काम लेकर, इस दोषको अनिवार्य समझकर, सहन कर लिया है; पर इस कमीके लिए मुझे पछतावा नहीं होता और कुछ है भी तो इतना ही कि मैं एक आदर्श पिता साबित न हुआ; परन्तु यह मेरा मत है कि उसके मूलमें अज्ञान हो, पर मैं इतना कह सकता हूँ कि वह सद्भावनापूर्ण थी। उनके चरित्र और जीवनके निर्माण करनेके लिए जो कुछ उचित और आवश्यक था, उसमें मैंने कोई कसर नहीं रहने दी है और मैं मानता हूँ कि प्रत्येक माता-पिताका यह अनिवार्य कर्त्तव्य है। मेरी इतनी कोशिशके बाद भी मेरे

बालकोंके जीवनमें जो खामियाँ दिखाई दी हैं, मेरा यह दृढ़ मत है कि वे हम दम्पतिकी खामियोंके प्रतिबिंब हैं।

बालकोंको जिस तरह माँ-बापकी आकृति विरासतमें मिलती है, उसी तरह उनके गुण-दोष भी विरासतमें मिलते हैं। हाँ, आस-पासके वातावरणके कारण तरह-तरहकी घटा-बढ़ी जरूर हो जाती है; परन्तु मूल पूंजी तो वही रहती है, जो उन्हें बाप-दादोंसे मिली होती है। यह भी मैंने देखा है कि कितने ही बालक दोषोंकी इस विरासतसे अपनेको बचा लेते हैं, पर यह तो आत्माका मूल स्वभाव है, उसकी बलिहारी है।

जबकि मैं इस तरह अनुशासनमें रहता था और बच्चोंको रख रहा था, एक ऐसी घटना हुई जिसमें मुझे जोहान्सबर्गका अपना घर छोड़ना पड़ा और अपने बाल-बच्चोंको फिनिक्स रहनेके लिए भेज देना पड़ा। मि० पोलकने अपने लिए अलग एक छोटा घर ले लिया। यह घटना 'जुलू-विद्रोह' थी।

२६

जुलू-विद्रोह

बोअर-युद्धकी तरह जुलू-बलवा भी एक ऐसा अवसर था जिसमें मैंने ब्रिटिश साम्राज्यके प्रति वफादारीकी भावनासे प्रेरित होकर काम किया। मुझे जुलू लोगोंसे कोई दुश्मनी नहीं थी। उन्होंने एक भी हिन्दुस्तानीको नुकसान नहीं पहुँचाया था। मैं तो उसको विद्रोह भी नहीं कह सकता था; परन्तु मैं उस समय अंग्रेजी सल्तनतको संसारके लिए कल्याणकारी मानता था। मैं हृदयसे उसका वफादार था। उसका नाश मैं नहीं चाहता था।

मैं अपनेको नेटाल-निवासी मानता था और नेटालके साथ मेरा निकट सम्बन्ध तो था ही। इसलिए मैंने वहांके गवर्नरको पत्र लिखा कि यदि जरूरत हो तो मैं घायलोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेके लिए हिन्दुस्तानियोंकी एक टुकड़ी लेकर जानेको तैयार हूँ।

गवर्नरने तुरन्त ही इसको स्वीकार कर लिया और डरबन पहुंचकर मैंने आदमी माँगे। हम चौबीस आदमी तैयार हुए। मुझे सारजेंट मेजरका अस्थायी पद दिया और मेरे पसन्द किये दूसरे दो सज्जनोंको सारजेंटकी और एकको 'कारपोरल' की पदवियाँ दीं।

इस टुकड़ीने छः सप्ताह तक सतत सेवा की। 'विद्रोह' के स्थलपर जाकर मैंने देखा कि वहाँ विद्रोह-जैसा कुछ नहीं था। वह तो एक प्रकारका कर-बन्दी आन्दोलन-मात्र था। जो हो, मेरा हृदय तो इन जुलूओंकी तरफ था और अपनी छावनीमें पहुँचनेपर जब हमें खासतौरसे जुलू-घायलोंकी शुश्रूषाका काम दिया गया तो मुझे बड़ी खुशी हुई। उस डाक्टर अधिकारीने हमारी इस सेवाका स्वागत करते हुए कहा—"गोरे लोग इन घायलोंकी सेवा करनेके लिए तैयार नहीं होते। मैं अकेला क्या करता? इनके घाव सड़ रहे हैं। आप आ गये, यह अच्छा हुआ। इसे मैं इन निरपराध लोगोंपर ईश्वरकी कृपा ही समझता हूँ।" यह कहकर मुझे पट्टियाँ और जन्तु-नाशक पानी दिया और उन घायलोंके पास ले गये। घायल यह देखकर बड़े आनन्दित हुए।

जिन रोगियोंकी शुश्रूषाका काम हमें सौंपा गया था, वे लड़ाईके घायल लोग न थे। उनमें एक हिस्सा तो उन कैदियोंका था जो शकमें पकड़े गए थे। जनरलने उन्हें कोड़ेकी सजा दी थी। इससे उन्हें घाव हो गये थे और उनका इलाज न होनेके कारण वे पक गये थे। दूसरा हिस्सा उन लोगोंका था जो जुलू-मित्र कहलाते थे। ये मित्रतादर्शक चिह्न पहने हुए थे। फिर भी इन्हें सिपाहियोंने भूलसे जख्मी कर दिया था। हमें एक जल्दी चलनेवाली सेनाके साथ काम दिया गया था, जो खतरेकी जगह दौड़ जाया करती थी। दो-तीन बार एक दिनमें चालीस मीलतक चलनेका प्रसंग आ गया था। वहाँ भी हमें तो बस यही सेवाका काम मिला। जो जुलू-मित्र भूलसे घायल हो गए थे, उन्हें हम डोलियोंमें उठाकर पड़ावपर ले जाते थे और वहां उनकी शुश्रूषा करते थे।

'जुलू-विद्रोह' लड़ाई नहीं, बल्कि मनुष्योंका शिकार

मालूम होता था। अकेले मेरा ही नहीं, वल्कि दूसरे अंग्रेजोंका भी यही खयाल था। सुवह होते ही हमें सैनिकोंकी गोला-वारीकी आवाज सुनाई पड़ती, जो गाँवोंमें जाकर गोलियाँ चलाते थे।

इन शब्दोंको सुनना और ऐसी स्थितिमें रहना मुझे वहुत वुरा मालूम हुआ, परन्तु मैं इस कड़वे घूंटको पीकर रह गया। ईश्वर-कृपासे काम भी जो मुझे मिला, वह भी जुलू लोगोंकी सेवाका ही। मेरा तो यह विश्वास हो गया था कि यदि हमने इस कामके लिए कदम न वढ़ाया होता तो दूसरे कोई इसके लिए तैयार न होते। इस वातको ध्यानमें लाकर मैंने अपनी आत्माको शांत किया।

२७

जीवन-भरका निश्चय

इस तरह यद्यपि मेरी अन्तरात्माको शान्ति मिली, तथापि दूसरी ऐसी वातें भी थीं जिनसे मनमें विचार जाग्रत होते थे। मीलोंतक जव हम विना वस्तीवाले प्रदेशोंमें लगातार किसी घायलको लेकर अथवा खाली हाथ मंजिल तय करते तव मेरा मन तरह-तरहके विचारोंमें डूव जाता।

यहाँ ब्रह्मचर्य-विषयक मेरे विचार परिपक्व हुए। अपने साथियोंके साथ भी मैंने उसकी चर्चा की। हाँ, यह वात अभी मुझे स्पष्ट नहीं दिखाई देती थी कि ईश्वर-दर्शनके लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य है; परन्तु यह वात मैं अच्छी तरह जान गया कि सेवाके लिए उसकी वहुत आवश्यकता है। मैं जानता था कि इस प्रकारकी सेवाएँ मुझे दिन-दिन अधिकाधिक करनी पड़ेंगी और यदि मैं भोग-विलासमें, प्रजोत्पत्तिमें और संतति-पालन में लगा रहा तो मैं पूरी तरह सेवा न कर सकूँगा।

मैं दो घोड़ोंपर सवारी नहीं कर सकता। यदि पत्नी इस समय गर्भवती होती तो मैं निश्चित होकर आज इस सेवा-कार्यमें

नहीं कूद सकता था। यदि ब्रह्मचर्यका पालन न किया जाय तो कुटुम्ब-वृद्धि मनुष्यके उस प्रयत्नका विरोधक हो जाय, जो उसे समाजके अभ्युदयके लिए करना चाहिए; पर यदि विवाहित होकर भी ब्रह्मचर्यका पालन हो सके तो कुटुम्ब-सेवा समाज-सेवाकी विरोधी नहीं हो सकती।

ये विचार अभी मैं अपने मनमें गढ़ ही रहा था और शरीरको कस ही रहा था कि इतनेमें कोई यह अफवाह लाया कि 'विद्रोह' शांत हो गया है और अब हमें छुट्टी मिल जायगी। दूसरे ही दिन हमें घर जानेका हुक्म हुआ और थोड़े ही दिन बाद हम सब अपने-अपने घर पहुँच गए। इसके थोड़े ही दिनों बाद गवर्नरने इस सेवाके निमित्त मेरे नाम धन्यवादका एक खास पत्र भेजा।

मैंने तो उसी समय व्रत ले लिया कि जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचर्यका पालन करूँगा। इस व्रतका महत्त्व और उसकी कठिनता मैं उस समय पूरी तरह न समझ सका था। कठिनाइयोंका अनुभव तो मैं आजतक भी करता रहता हूँ। साथ ही उस व्रतका महत्त्व भी दिन-दिन अधिकाधिक समझता जाता हूँ। ब्रह्मचर्य-हीन जीवन मुझे शुष्क और पशुवत् मालूम होता है।

मैंने संयम-भंग करनेवाले विषयोंसे बचनेकी अटल प्रतिज्ञा ली। व्रत लेनेके विरुद्ध जितनी भी लुभावनी दलीलें हो सकती हैं, उनमेंसे किसीके वशीभूत मैं न हुआ। अटल व्रत एक किलेकी तरह है जो भयंकर मोहों और प्रलोभनोंसे मनुष्यकी रक्षा कर सकता है, यह हमारी दुर्बलताओं और चंचलताओं का अचूक इलाज है। निष्कुलानंदने ठीक ही कहा है—

त्याग न टके रे वैराग विना

साधकावस्थामें जब मनुष्यपर मोह और विकारोंका हमला होता है तब व्रत उसकी रक्षाके लिए अनिवार्य ही है।

मैंने जबतक (१९०६ में) यह व्रत ले नहीं लिया तबतक अपनी पत्नीसे कभी इस बारेमें सलाह-मशविरा नहीं किया। मुझे खुशी हुई कि उसने इसपर कोई एतराज नहीं किया और

उसको इसका वड़ा श्रेय है। १९०६ के पहले उस स्वतन्त्रता और आनन्दका अनुभव मैंने कभी नहीं किया, जो मुझे व्रत लेनेके वाद मिला। और उधर एक महीनेके अन्दर-ही-अन्दर 'सत्याग्रह' का सूत्रपात हुआ। मानो ब्रह्मचर्य-व्रत ही मुझे अज्ञातरूपसे सत्याग्रहके लिए तैयार कर रहा था। सत्याग्रहकी योजना पहले कभी दिमागमें आई ही नहीं थी। यह तो मेरी विना इच्छाके अपने आप ही सामने आ गया; लेकिन इतना मैं कह सकता हूँ कि मेरे पिछले सव निश्चय मुझे उसी ध्येयकी ओर ले चल रहे थे।

इसमें यद्यपि मुझे इस व्रतमें उत्तरोत्तर प्रसन्नता होती जाती थी, पर लोग इससे यह न समझ लें कि मेरे लिए यह कोई आसान चीज थी। इस बुढ़ापेमें भी मैं जानता हूँ कि यह कितनी कठिन चीज है। दिन-प्रति-दिन मुझे यह महसूस होता जाता है कि इस व्रतका पालन करना तलवारकी धारपर चलना है। मुझे पल-पलपर जाग्रत और सावधान रहनेकी आवश्यकता दिखाई देती है।

'ब्रह्मचर्य'का अर्थ है मन, वचन और कर्मसे इन्द्रियोंका संयम। 'ब्रह्मचारी' और भोगीके जीवनमें क्या अंतर है, यह समझ लेना ठीक होगा। दोनों अपनी आँखोंसे देखते हैं; लेकिन ब्रह्मचारी देव-दर्शन करता है और भोगी नाटक, सिनेमा देखनेमें लीन रहता है। दोनों कर्णेन्द्रियोंका उपयोग करते हैं; लेकिन जहाँ ब्रह्मचारी ईश्वर-भजन सुनता है, वहाँ भोगी-विलासी गीतोंको सुननेमें मगन रहता है। दोनों जागरण करते हैं; मगर एक अपने हृदयस्थ ईश्वरकी आराधना करता है तो दूसरा नाच-गानेमें सुध भूला रहता है। दोनों आहार करते हैं; मगर एक शरीरको ईश्वरका निवास समझकर उसकी रक्षाभरके लिए कुछ खा लेता है और दूसरा स्वादके लिए पेटमें अनेक पदार्थ भरकर उसे और दुर्गन्धित वनाता है।

ऐसे ब्रह्मचर्यका पालन करनेके लिए सतत प्रयत्नशील

रहनेकी जरूरत है; लेकिन जो ईश्वर-साक्षात्कारके लिए ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहते हैं, वे यदि अपने प्रयत्नके साथ ही ईश्वरपर श्रद्धा रखेंगे तो उन्हें निराश होनेका कारण नहीं है। गीतामें भी कहा है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ (२:५९)

इसलिए आत्मार्थीका अन्तिम साधन तो रामनाम और रामकृपा ही है। इस बातका अनुभव मैंने हिन्दुस्तान आनेपर ही किया।

२८

घरमें सत्याग्रह

१९०८ में मुझे पहली बार जेलका अनुभव हुआ। उस समय मुझे यह बात मालूम हुई कि जेलमें जो कितनेही नियम कैदियोंसे पालन कराये जाते हैं, वे संयमीको अथवा ब्रह्मचारीको स्वेच्छा-पूर्वक पालन करने चाहिए; जैसे कैदियोंको सूर्यास्तके पहले पाँच बजे तक भोजन कर लेना चाहिए, उन्हें—फिर वे हब्शी हों या हिन्दुस्तानी—चाय या काफी न दी जाय, नमक खाना हो तो अलहदा लें, स्वादके लिए कोई चीज न खिलाई जाय, आदि। जब मैंने जेलके डाक्टरसे कैदियोंके लिए 'करी पाउडर' माँगा और नमक रसोई पकाते वक्त ही डालनेके लिए कहा, तो उन्होंने जवाब दिया—"आप लोग यहाँ स्वादिष्ट चीजें खानेके लिए नहीं आये हैं। आरोग्यके लिए नमक चाहे ऊपरसे लिया जाय, चाहे पकाते वक्त डाल दिया जाय, एक ही बात है।"

खैर, वहाँ तो बड़ी मुश्किलसे हम लोग भोजनमें आवश्यक परिवर्तन करा पाये थे; परन्तु संयमकी दृष्टिसे जब उनपर विचार करते हैं तो मालूम होता है कि ये प्रतिबन्ध अच्छे ही थे। बलात् नियमोंका पालन करनेसे उसका फल नहीं मिलता;

परन्तु स्वेच्छासे ऐसे प्रतिबन्धोंका पालन किया जाय तो वह बहुत उपयोगी हो सकता है। अतएव जेलसे निकलनेके बाद मैंने तुरन्त इन बातोंका पालन शुरू कर दिया। जहांतक हो सका, चाय पीना बन्द कर दिया और संध्यासे पहले भोजन करनेकी आदत डाली जो आज तो स्वाभाविक हो बैठी है।

परन्तु ऐसी भी घटना घटी, जिसकी बदौलत मैंने नमक भी छोड़ दिया था। यह सिलसिला लगभग १० बरसतक नियमित रूपसे जारी रहा। अन्नाहार-संबंधी कुछ पुस्तकोंमें मैंने पढ़ा था कि मनुष्यके लिए नमक खाना आवश्यक नहीं है। जो नमक नहीं खाता है, आरोग्यकी दृष्टिसे उसे लाभ ही होता है और मेरी तो यह भी कल्पना दौड़ गई कि ब्रह्मचारीको भी उससे लाभ होगा। जिसका शरीर निर्बल हो, उसे दाल न खानी चाहिए, यह मैंने पढ़ा था और अनुभव भी किया था; परन्तु मैं उसी समय यह छोड़ न सका, क्योंकि दोनों चीजें मुझे प्रिय थीं।

कस्तूरबाईको रक्त-स्रावकी बीमारी थी, जिसके लिए उसका आपरेशन हुआ था। उसके बाद यद्यपि उसका रक्त-स्राव कुछ समयके लिए बंद हो गया था, तथापि बादको वह फिर जारी हो गया। अबकी वह किसी तरह दूर न हुआ। पानीके इलाज बेकार साबित हुए। मेरे इन उपचारोंपर पत्नीकी बहुत श्रद्धा न थी; पर साथ ही तिरस्कार भी न था। दूसरा इलाज करनेका भी मुझे आग्रह न था; इसलिए जब मेरे दूसरे उपचारोंमें सफलता न मिली तब मैंने उसको समझाया कि दाल और नमक छोड़ दो। मैंने उसे समझानेकी हद कर दी। अपनी बातके समर्थनमें कुछ साहित्य भी पढ़ सुनाया; पर वह नहीं मानती थी। अन्तमें उसने झुंझलाकर कहा—"दाल और नमक छोड़नेके लिए तो आपसे भी कोई कहे तो आप भी न छोड़ेंगे।"

इस जवाबको सुनकर जहां मुझे दुःख हुआ, वहां हर्ष भी हुआ; क्योंकि इससे मुझे अपने प्रेमका परिचय देनेका अवसर मिला। उस हर्षमें मैंने तुरन्त कहा—"तुम्हारा खयाल गलत है।

में यदि बीमार होऊँ और मुझे यदि वैद्य इन चीजोंको छोड़नेके लिए कहें तो जरूर छोड़ दूं। पर ऐसा क्यों? लो, तुम्हारे लिए आजसे ही दाल और नमक एक साल तक छोड़ देता हूं। तुम छोड़ो या न छोड़ो, मैंने तो छोड़ दिया।"

यह सुनकर पत्नीको बहुत दुःख हुआ। वह कह उठी—"माफ करो, आपका स्वभाव जानते हुए भी यह बात मेरे मुंहसे निकल गई। अब मैं तो दाल और नमक न खाऊँगी; पर आप अपना वचन वापस ले लीजिए। यह तो मुझे भारी सजा दे दी।"

मैंने कहा—"तुम दाल और नमक छोड़ दो तो बहुत ही अच्छा होगा। मुझे विश्वास है कि उससे तुम्हें लाभ ही होगा। परंतु में जो प्रतिज्ञा कर चुका हूँ, वह नहीं टूट सकती। मुझे भी उससे लाभ ही होगा। हर किसी निमित्तसे मनुष्य यदि संयमका पालन करता है तो इससे उसे लाभ ही होता है। इसलिए, तुम इस बातपर जोर न दो, क्योंकि इससे मुझे भी अपनी आजमाइश कर लेनेका मौका मिलेगा और तुमने जो इनको छोड़नेका निश्चय किया है, उसपर दृढ़ रहनेमें तुम्हें मदद मिलेगी।" इतना कहनेके बाद तो मुझे मनानेकी आवश्यकता रह नहीं गई थी। "आप तो बड़े हठी हैं, किसीका कहा मानना आपने सीखा ही नहीं।"—यों कहकर वह आँसू बहाती हुई चुप हो रही।

इसको मैं पाठकोंके सामने सत्याग्रहके तौरपर पेश करना चाहता हूँ और कहना चाहता हूँ कि मैं इसे अपने जीवनकी मीठी स्मृतियोंमें गिनता हूँ।

इसके बाद कस्तूरबाईका स्वास्थ्य खूब सम्भलने लगा। अब यह नमक और दाल के त्यागका फल था, या उस त्यागसे हुए भोजनके छोटे-बड़े परिवर्तनोंका फल था, या उसके बाद दूसरे नियमोंका पालन करानेकी मेरी जागरूकताका फल था, या इस घटनाके कारण जो मानसिक उल्लास हुआ उसका फल था, यह मैं नहीं कह सकता; परंतु यह बात जरूर हुई कि कस्तूरबाईका सूखा शरीर फिर पनपने लगा। रक्त-स्राव बंद हो गया और

'वैद्यराज' के रूपमें मेरी साख कुछ बढ़ गई।

२९
संयमकी ओर

ऊपर कह चुका हूं कि भोजनमें कितने ही परिवर्तन कस्तूर-बाईकी बीमारीको बदोलत हुए; पर अब तो दिन-दिन उसमें ब्रह्मचर्यकी दृष्टिसे परिवर्तन करता गया।

पहला परिवर्तन हुआ दूधका त्याग। दूधसे विकार पैदा होते हैं, यह बात पहले-पहल रायचंद भाईसे मालूम हुई थी। अन्नाहार-संबंधी अंग्रेजी पुस्तकें पढ़नेसे इस विचारमें वृद्धि हुई; परंतु जबतक ब्रह्मचर्य-व्रत नहीं लिया था तबतक दूध छोड़नेका इरादा खासतौरपर नहीं कर सका था। यह बात मैं कभीसे समझ गया था कि शरीरकी रक्षाके लिए दूधकी आवश्यकता नहीं; पर उसका सहसा छूट जाना कठिन था। इधर मैं यह बात अधिकाधिक समझता ही जा रहा था कि संयमके लिए दूध छोड़ देना चाहिए कि कलकत्तेसे कुछ ऐसा साहित्य मेरे पास आया, जिसमें ग्वालों द्वारा गाय-भैंसोंपर होनेवाले अत्याचारोंका वर्णन था।

इस साहित्यका मुझपर बड़ा बुरा असर हुआ और उसके सम्बन्धमें मैंने मि० केलनबेकसे भी चर्चा की।

हालांकि मि० केलनबेकका परिचय मैं 'द० अ० के सत्याग्रहका इतिहास' में करा चुका हूं; परंतु यहां उनके संबंधमें दो शब्द अधिक कहनेकी आवश्यकता है। उनकी मेरी मुलाकात अनायास हो गई थी। मि० खानके वह मित्र थे। मि० खानने देखा कि उनके अन्दर गहरा वैराग्य-भाव था। इसलिए मेरा खयाल है कि उन्होंने उनसे मेरी भेंट कराई। जिन दिनों उनसे मेरा परिचय हुआ, उन दिनों उनके शौक और शाह-खर्चीको देखकर मैं चौंक उठा था; परंतु पहली ही मुलाकातमें मुझसे

उन्होंने धर्मके विषयमें प्रश्न किया। उसमें भगवान बुद्धकी बात सहज ही निकल पड़ी। तबसे हमारा संपर्क बढ़ता गया और वह इस हदतक कि उनके मनमें यह निश्चय हो गया कि जो कार्य मैं करूँ, वह उन्हें भी अवश्य करना चाहिए। वह अकेले थे। अकेलेके लिए मकान-खर्चके अलावा लगभग १२००) रुपये मासिक खर्च करते थे। यहांसे अंतको वह इतनी सादगीपर आ गए कि उनका मासिक खर्च १२०) रुपये हो गया। मेरे घरबार बिखेर देने और जेलसे आनेके बाद तो हम दोनों एकसाथ रहने लगे थे। उस समय हम दोनों अपना जीवन अपेक्षाकृत बहुत कड़ाईसे बिता रहे थे।

दूधके संबंधमें जब मेरी उनसे बातचीत हुई तब हम साथ ही रहते थे। एक बार मि० केलनबेकने कहा—"जब हम दूधमें इतने दोष बताते हैं तो फिर उसे छोड़ क्यों न दें? वह अनिवार्य तो है ही नहीं।" उनकी इस रायको सुनकर मुझे बड़ा आनन्द और आश्चर्य हुआ। मैंने तुरंत उनकी बातका स्वागत किया और हम दोनोंने टाल्स्टाय-फार्ममें उसी क्षण दूध छोड़ दिया। यह बात १९१२ की है।

पर हमें इतनेसे शांति न हुई। दूध छोड़ देनेके थोड़े ही समय बाद केवल फलपर रहनेका प्रयोग करनेका निश्चय किया। फलाहारमें भी धारणा यह रखी गई कि सस्ते-से-सस्ते फलसे काम चलाया जाय। हम दोनोंकी आकांक्षा यह थी कि गरीब लोगोंके अनुसार जीवन व्यतीत किया जाय। फलाहार में बहुतांश-में चूल्हा सुलगानेकी जरूरत नहीं होती, इसलिए कच्ची मूंगफली, केले, खजूर, नींबू और जैतूनका तेल, यह हमारा खाना हो गया था।

जो लोग ब्रह्मचर्यका पालन करनेकी इच्छा रखते हैं, उनके लिए यहां एक चेतावनी देनेकी आवश्यकता है। यद्यपि मैंने ब्रह्मचर्यके साथ भोजन और उपवासका निकट संबंध बताया है, फिर भी यह निश्चित है कि उसका मुख्य आधार है हमारा मन।

मलिन मन उपवाससे शुद्ध नहीं होता। भोजनका उसपर

असर नहीं होता। मनकी मलिनता विचारसे, ईश्वर-ध्यानसे और अंतको ईश्वर-प्रसादसे मिटती है; परंतु मनका शरीरके साथ निकट संबंध है और विकार-युक्त मन अपने अनुकूल भोजनकी तलाशमें रहता है और फिर उस भोजन और भोगोंका असर मनपर होता है। इस अंशतक भोजनपर अंकुश रखनेकी और निराहारकी आवश्यकता अवश्य उत्पन्न होती है।

मैंने संयमके उद्देश्यसे उपवासके प्रयोग आरंभ किये। वे श्रावण महीनेके दिन थे और उस साल रमजान और श्रावण-मास एकसाथ आये थे। गांधी-कुटुंबमें वैष्णव-व्रतोंके साथ शैव-व्रतोंका पालन किया जाता था। हमारे परिवारके लोग जिस प्रकार वैष्णव-देवालयोंमें जाते, उसी प्रकार शिवालयोंमें भी जाते। श्रावण-मासमें प्रदोष-व्रत तो हर साल कुटुंबमें कोई-न-कोई रखता ही था। इसलिए मैंने इस बार श्रावण-मासके व्रत रखने-का इरादा किया।

इस महत्त्वपूर्ण प्रयोगका आरंभ टाल्स्टाय-आश्रममें हुआ। वहां सत्याग्रही कैदियोंके कुटुंबोंको एकत्र कर मैं और केलनबेक रहते थे। उनमें बालक और नवयुवक भी थे। उनके लिए एक पाठशाला खोली थी। इन नवयुवकोंमें चार-पांच मुसलमान भी थे। उन्हें मैं इस्लामके नियम-पालनमें मदद करता और उत्तेजन देता। नमाज वगैराकी सहूलियत कर देता। आश्रममें पारसी और ईसाई भी थे। नियम यह था कि सबको अपने-अपने धर्मोंके अनुसार आचरण करनेके लिए प्रोत्साहन दिया जाय। इसलिए मुसलमान नवयुवकोंको मैंने रोजा रखनेमें उत्तेजन दिया और मुझे तो प्रदोप रखने ही थे, परंतु हिन्दुओं, पारसियों और ईसाइयोंको भी मैंने मुसलमान नवयुवकोंका साथ देनेकी सलाह दी। मैंने उन्हें समझाया कि संयम-पालनमें सबका साथ देना अच्छा है। बहुतेरे आश्रमवासियोंने बात पसंद की। हिन्दू और पारसी लोग मुसलमान साथियोंका पूरा-पूरा अनुकरण नहीं करते थे। करनेकी आवश्यकता भी नहीं थी। मुसलमान

इधर सूरज डूबनेकी राह देखते तबतक दूसरे लोग उनसे पहले भोजन कर लेते कि जिससे वे मुसलमानोंको परोस सकें और उनके लिए खास चीजें तैयार कर सकें। इसके अलावा मुसलमान सरगही करते—अर्थात् व्रतके दिनोंमें सवेरे सूर्योदयके पहले भोजन करते थे, पर दूसरे लोग उसमें शरीक नहीं होते थे। इधर मुसलमान तो दिनमें भी पानी नहीं पीते थे, पर दूसरे लोग जब चाहते, पी लिया करते।

इन प्रयोगोंसे मेरा यह अनुभव हुआ है कि जिसका मन संयमकी ओर झुक रहा है, उसके लिए भोजनकी मर्यादा और निराहार बहुत सहायक होते हैं।

३०

वकील-जीवनकी कुछ स्मृतियाँ

दक्षिण अफ्रीकामें वकालत करते हुए मुझे जो-कुछ अनुभव हुए हैं, उनकी कुछ स्मृतियाँ यहाँ देना चाहता हूँ। जब मैं पढ़ता था तब सुना था कि वकीलका काम बिना झूठ बोले नहीं चल सकता, परंतु इसका मुझपर कोई असर न होता था, क्योंकि मैं झूठ बोलकर न तो धन ही कमाना चाहता था, न पद-प्रतिष्ठा ही पाना चाहता था।

जहाँतक मुझे याद है, वकालत करते हुए मैंने कभी असत्य-का प्रयोग नहीं किया और आमदनीका एक बड़ा हिस्सा केवल लोक-सेवाके लिए ही अर्पित कर दिया था एवं उसके लिए मैं जेब-खर्चसे अधिक कुछ नहीं लेता था। कभी-कभी तो वह भी छोड़ देता था। मवक्किलसे भी पहले ही कह देता कि यदि मामला झूठा हो तो मेरे पास न आना। गवाहोंको बनानेका काम करनेकी आशा मुझसे न रखना। आगे जाकर तो मेरी ऐसी साख हो गई थी कि कोई झूठा मामला मेरे पास आता ही नहीं था। ऐसे मवक्किल भी मेरे थे जो अपने सच्चे मामले ही मेरे पास लाते

और जिनमें जरा भी गंदगी होती तो वे दूसरे वकीलके पास ले जाते।

जोहान्सवर्गकी एक घटना मुझे याद आती है। मैं एक मुकदमेकी पैरवी कर रहा था। मुकदमेके दौरानमें मुझे मालूम हुआ कि मेरे मवक्किलने मुझे धोखा दिया है। कठघरेमें वह बिलकुल घबरा गया था। मैंने बिना बहस किये ही मजिस्ट्रेटसे कहा कि मुकदमा खारिज कर दीजिए। विरोधी वकीलको इस-पर ताज्जुब हुआ। लेकिन मजिस्ट्रेट इससे खुश हुआ। इस घटनाके कारण मेरी वकालतपर कोई बुरा असर नहीं हुआ, बल्कि मुझे कहना चाहिए कि उल्टा मेरा काम आसान हो गया। मैंने यह भी अनुभव किया कि मेरे सत्य-पालनका प्रभाव मेरे साथी वकीलों-पर भी अच्छा ही पड़ा और मेरी ख्याति भी बढ़ी। वहाँके रंग-द्वेषके वातावरणमें भी मैं कुछ मामलोंमें उनका प्रीति-पात्र भी बन जाता था।

पारसी रुस्तमजीका नाम दक्षिण अफ्रीकाके हिन्दुस्तानियों-में घर-घर फैला हुआ था। सार्वजनिक कार्योंमें अरसेसे वह मेरे साथी थे। इनपर एक बार बड़ी विपत्ति आ गई थी। हालाँकि वह अपनी व्यापार-संबंधी बहुत-सी बातें भी मुझसे किया करते थे फिर भी एक बात मुझसे छिपा रखी थी। बंबई, कलकत्तेसे जो माल मँगाते, उनकी चुंगीमें चोरी कर लिया करते। तमाम अधिकारियोंसे उनका मेल-जोल अच्छा था। इसलिए किसीको उनपर शक नहीं होता था।

मगर एक बार उनकी यह चोरी पकड़ी गई। तब वह मेरे पास दौड़े आये। उनकी आँखोंसे आँसू निकल रहे थे। मुझसे कहा—"भाई, मैंने आपको धोखा दिया है। मेरा पाप आज प्रकट हो गया है। मैं चुंगीकी चोरी करता हूँ। यह बात मैंने आपसे छिपाई थी, अब इसकेलिए पछताता हूँ।"

मैंने उन्हें धीरज और दिलासा देकर कहा—"मेरा तरीका तो आप जानते ही हैं। छुड़ाना न छुड़ाना ईश्वरके हाथ है। मैं तो

आपको उसी हालतमें छुड़ा सकता हूं, जब आप अपना गुनाह कबूल कर लें।"

"परन्तु मैंने आपके सामने कबूल कर लिया, इतना ही क्या काफी नहीं है ?" रुस्तमजी सेठने कहा।

"आपने कसूर तो सरकारका किया है, तो मेरे सामने कबूल करनेसे क्या होगा ?" मैंने धीरेसे उत्तर दिया।

हमने उनके वकीलसे सलाह भी ली। उन्होंने मेरी तजवीज पसन्द नहीं की, लेकिन पारसी रुस्तमजीने मेरी सलाहपर चलना ही बेहतर समझा। मैंने कहा—"मैं चुंगीके अफसर और अटर्नी-जनरल दोनोंसे मिलूंगा, क्योंकि उन्हींपर इस मुकदमेके चलाने-की जिम्मेदारी है। मैं उन्हें सुझाऊंगा कि पारसी रुस्तमजीपर जुरमाना कर दिया जाय। अगर वे राजी न हुए तो आपको जेल जाना होगा।" मैंने उन्हें समझाया कि जेल जानेमें शर्म की बात नहीं है, शर्मकी बात तो चोरी करनेमें है। मैं यह नहीं कह सकता कि रुस्तमजी सेठ इनसब बातोंको ठीक-ठीक समझ गए हों। पर वह बहादुर आदमी थे।

उन्होंने कहा—"मैं तो आपसे कह चुका हूं कि मेरी गरदन आपके हाथमें है। जैसा आप मुनासिब समझें करें।"

मैंने इस मामलेमें अपनी सारी कला और सौजन्य खर्च कर डाला। मैं दोनों अफसरोंसे मिला, चोरीकी सारी बातें मैंने निःशंक होकर उनसे कह दीं।

मुझे कहना चाहिए कि मेरी सत्य-प्रियताको उन्होंने देख लिया और उनके सामने मैं यह सिद्ध कर सका कि मैं कोई बात उनसे छिपाता नहीं था।

रुस्तमजीपर मुकदमा नहीं चलाया गया। हुक्म हुआ कि जितनी चोरी पारसी रुस्तमजीने कबूल की है, उसके दूने रुपये ले लिये जायं और मुकदमा न चलाया जाय।

रुस्तमजीने अपनी इस चुंगी-चोरीका किस्सा लिखकर शीशेमें जड़ाकर अपने दफ्तरमें टांग दिया और अपने वारिसों

तथा व्यापारियोंको ऐसा करनेके लिए खबरदार कर दिया।

३१

सत्याग्रहका जन्म

जूलू-विद्रोहमें सौंपे गये अपने कामको खत्म करके जब मैं अपने फिनिक्सके सहयोगियोंसे अपनी योजनाओं और जीवनके आदर्शोंकी चर्चा कर रहा था, मुझे खबर मिली कि २२ अगस्त १९०६ के ट्रांसवाल सरकारके 'असाधारण गजट' में एक आर्डि-नैंसका मसविदा छपा है, जिसका उद्देश्य एक प्रकारसे दक्षिण अफ्रीका-प्रवासी भारतीयोंकी बरबादी करना था। उसके मुताबिक आठ साल या उससे ज्यादह उम्रके हर एक हिन्दुस्तानी-को—चाहे वह मर्द हो या औरत—ट्रांसवालमें रहनेके लिए एशियाटिक-रजिस्टरमें अपना नाम दर्ज करवाना पड़ता और अपने लिए रजिस्ट्रीका परवाना प्राप्त करना पड़ता। ये परवाने लेते वक्त अपने पुराने परवाने अधिकारियोंको सौंप देने पड़ते। नाम लिखनेकी अर्जीमें अपना नाम, स्थान, जाति, उम्र वगैरा लिखे जाते। नाम लिखनेवाले अधिकारी अर्जीदारका हुलिया नोट करते और अंगुलियों तथा अंगूठेके निशान ले लेते। जो स्त्री-पुरुष नियत समयमें रजिस्ट्री न करवा लेते, उनका ट्रांसवालमें रहनेका हक छिन जाता। अर्जी न देना भी कानूनी अपराध माना जाता और उसके लिए अपराधी जेलमें भेज दिया जा सकता या जुर्माना भी कर दिया जा सकता था और अगर अदालत चाहे तो देश-निकालेकी भी सजा दे सकती थी।

दूसरे दिन कुछ गण्य-मान्य भारतीयोंको इकट्ठा करके मैंने उन्हें इसका मतलब अक्षरशः समझाया। उसका असर उनपर भी वही हुआ जो मुझपर हुआ था। सभी स्थितिकी गंभीरताको समझ गये और यह निश्चय हुआ कि एक सार्वजनिक सभा बुलाई जाय।

११ सितम्बर, १९०६ को सभा बुलाई गई। उसमें जो सबसे महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास हुआ वह चौथा प्रस्ताव है, जोकि बहुत प्रसिद्ध हो चुका है। मैंने यह प्रस्ताव सभाको अच्छी तरह समझा दिया। उसका आशय यह था कि इस बिलका विरोध करनेके लिए तमाम उपायोंका अवलम्बन किया जाय, पर यदि इतनेपर भी वह पास हो ही जाय तो भारतीयोंको उसके आगे अपना सिर न झुकाना चाहिए और इस अवज्ञाके फलस्वरूप जो कुछ दुःख सहना पड़े, वह सब सह लेना चाहिए। आंदोलनको उस समय निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance) कहते थे। बादमें इसे 'सत्याग्रह' कहने लगे।

हमारे आंदोलनके बावजूद वह बिल पास हो ही गया। हालांकि हमने पिकेटिंग भी किया और लोकमत भी उसके विरुद्ध था, फिर भी कुछ हिन्दुस्तानियोंने अपने नामकी रजिस्ट्री करवा ही ली। लेकिन जब एशियाटिक विभागने देखा कि उनके तमाम आकाश-पाताल एक करनेपर भी उन्हें ५०० से अधिक लोग रजिस्ट्री करानेवाले न मिले तब उन्होंने पकड़ा-धकड़ी शुरू की। जर्मिस्टनमें बहुत-से भारतीय रहते थे। उनमें रामसुन्दर नामक एक व्यक्ति भी था। वह बड़ा वाचाल और बहादुर दिखता था। उसके गिरफ्तार होते ही, जहां केवल जर्मिस्टनके ही भले लोग उसे जानते थे, वहां अब सारे दक्षिण अफ्रीकाके लोग जानने लग गये। अदालतमें भी रामसुन्दरका वैसा ही आदर-सत्कार किया गया जैसा कि कौमके प्रतिनिधि और एक असाधारण अपराधीका होना चाहिए था। अदालत उत्सुक भारतीयोंसे खचाखच भर गई थी। रामसुन्दरको एक मासकी सादी कैदकी सजा हुई और वह जोहान्सबर्गकी जेलके यूरोपियन वार्डमें अलग कमरेमें रखा गया। उसकी गिरफ्तारीका दिन बड़ी धूम-धामसे मनाया गया।

पर रामसुन्दर अयोग्य साबित हुआ। कौम और जेल-अधिकारियोंसे खासी-अच्छी सेवा लेनेके बाद भी उसे जेल दुःखदायी मालूम हुआ और उसने ट्रांसवाल और आंदोलन दोनों-

को अन्तिम नमस्कार करके अपनी राह ली।

रामसुन्दरका यह किस्सा मैंने उसके दोष-दर्शनके लिए नहीं लिखा है, बल्कि उससे शिक्षा ग्रहण करनेके लिए लिखा है। प्रत्येक पवित्र आंदोलन या युद्धके संचालकोंको चाहिए कि वे उसमें शुद्ध मनुष्योंको ही शरीक करें।

३२

जेलमें

मगर रामसुन्दरकी गिरफ्तारीसे सरकारको जरा भी लाभ न हुआ, बल्कि उलटा कौमका उत्साह दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ने लगा। एशियाटिक विभागके अधिकारी 'इंडियन ओपीनियन' के लेख ध्यानपूर्वक पढ़ा करते थे। युद्ध-सम्बन्धी कोई भी बात छिपाकर नहीं रखी जाती थी। कौम और आंदोलनकी सारी गतिविधि सब इस अखबारसे जानी जा सकती थी। इससे उन्होंने यह तय किया कि जबतक वे कुछ खास-खास अगुआओंको गिरफ्तार नहीं कर लेते तबतक लड़ाईकी कमर नहीं तोड़ी जा सकती। इसलिए दिसंबर १९०७ में कितने ही अगुआओंको अदालतमें हाजिर होनेका समन मिला। वे सब २८ दिसम्बर, शनिवारको अदालतमें हाजिर हुए। उन्हें इस बातका जवाब देना था कि एशियाटिक कानूनके मुताबिक रजिस्ट्री न करनेके कारण क्यों न उनपर मुकदमा चलाया जाय? मजिस्ट्रेटने हरएकका मकदमा अलग-अलग किया और तमाम मुल्जिमोंको हुक्म दिया कि कुछ तो ४८ घण्टेके अन्दर और कुछ ७ या १४ दिनके भीतर ट्रांसवाल छोड़कर चले जायँ। यह मियाद १० जनवरी १९०८ को खत्म होती थी और उसी दिन हमें आदलतमें सजा सुननेके लिए बुलाया गया। हमें किसीको सफाई देनी ही नहीं थी। सब अपना गुनाह कबूल करनेवाले थे कि हमने मियादके अंदर ट्रांसवाल न छोड़कर आज्ञा भंग की है।

अदालतमें जो बयान मैंने दिया, उसमें मैंने मजिस्ट्रेटसे अपने लिए अधिक-से-अधिक सजा माँगी। फिर भी मजिस्ट्रेटने मुझे सिर्फ दो महीनेकी ही सजा दी। जिस अदालतमें मैं सैकड़ों बार वकीलकी हैसियतसे खड़ा रहता था, वकीलोंके साथ बैठता था, वहींपर आज मैं अपराधीके कठघरेमें खड़ा हूँ—यह विचार कुछ विचित्र जरूर मालूम हुआ, पर यह तो मुझे अच्छी तरह याद है कि वकीलोंके साथ बैठनेमें अपना जो सम्मान समझता था, उसकी बनिस्वत कहीं अधिक सम्मान आज मैंने इस कठघरेमें खड़े रहकर माना।

अदालतमें तो सैकड़ों हिन्दुस्तानी भाई, वकील, मित्र वगैराके सामने मैं खड़ा था, लेकिन सजा सुनाते ही मुझे फौरन हवालातमें ले गये, और वहाँ अकेला रखा गया। एक पुलिस सिपाहीने मुझे वहाँ एक बेंचपर बैठनेके लिए कहा और दरवाजा बन्द करके चला गया। यहाँ मेरे दिलमें जरूर क्षोभ पैदा हुआ। मैं गहरे विचार-सागरमें गोते खाने लगा। वकालत कहाँ गई? घर-बार कहाँ हैं? वे सभाएँ कहाँ हैं? क्या यह सब सपना था? और आज मैं कैदी हो गया हूँ! इन दो महीनोंमें क्या होगा?

क्या पूरी सजा काटनी होगी? यदि लोग बराबर एकके बाद एक आते रहे, तब तो यहाँ दो महीने न रहना पड़ेगा, पर यदि न आवें तो यह दो महीने कैसे कटेंगे? यह लिखते हुए जितना समय लग रहा है, उसके सौवें हिस्सेसे भी कम समय मेरे मनमें ये तथा ऐसे कितने ही विचार आये। और फिर मेरा सिर शर्मके मारे झुक गया। "अरे, यह कैसा मिथ्याभिमान! मैं तो जेलको महल बना रहा था—उस खूनी कानूनका सामना करते हुए जो कुछ मुसीबतें आवें, उन्हें दुःख नहीं, सुख समझना चाहिए, उसका सामना करते हुए जान-माल भी अर्पण कर देना ही तो सत्याग्रहकी पूर्णता है—यह सब ज्ञान अब कहाँ चला गया?" बस, ये विचार आते ही मैं फिर होशमें आया और अपनी मूर्खता-पर आप ही हँसने लगा। अब दूसरे भाइयोंको कैसी सजा दी

जायगी, उन्हें मेरे साथ ही रखेंगे या अलग, आदि व्यावहारिक विचारोंमें मैं पड़ा। इस प्रकार विचार-सागरमें गोते लगा ही रहा था कि दरवाजा खुला। पुलिस-अधिकारीने आकर मुझसे कहा कि मेरे साथ चलो। मैं रवाना हुआ। मुझे आगे करके वह पीछे हो लिया और जेलकी बन्द गाड़ीके पास मुझे ले जाकर उसमें बैठनेके लिए कहा। मेरे बैठते ही गाड़ी जोहान्सबर्ग जेलकी तरफ चली।

जेलमें आनेपर मेरे कपड़े उतरवाये गये। मेरा नाम-ठाम लिखनेके बाद मुझे एक बड़े कमरेमें ले गये। कुछ देर वहाँ रखा होगा कि इतने हीमें मेरे और साथी भी हँसते-हँसते और बात-चीत करते हुए आ पहुँचे। मेरे बाद उनका मुकदमा कैसे चला, आदि सब हाल उन्होंने कह सुनाया। हम सबको एक ही जेल और एक ही बड़े कमरेमें रखा गया। इससे हम सब बड़े प्रसन्न हुए।

२३

जेलके प्रथम अनुभव

छः बजे हमारे कमरेका दरवाजा बन्द कर दिया गया। वहाँके जेलकी कोठरियोंके दरवाजेमें लोहेकी छड़ें नहीं होतीं। वे बिलकुल मुंदे रहते हैं और ठेठ ऊपर दीवारमें एक झरोखा हवाके लिए रखा जाता है। इसलिए हमें तो यही मालूम हुआ कि हम मानो सन्दूकमें बन्द हैं।

दूसरे-तीसरे दिनसे सत्याग्रहके कैदियोंके झुंड आने लगे। वे सब जान-बूझकर गिरफ्तार होते थे। उनमें अधिकांश तो फेरीवाले थे। दक्षिण अफ्रीकामें हरएक फेरीवालेको, फिर वह गोरा हो या काला, फेरी का परवाना लेना पड़ता है जो उसे हमेशा पास रखना पड़ता है और पुलिसके मांगनेपर बताना पड़ता है। अक्सर कोई-न-कोई पुलिसका आदमी परवाना

माँग ही बैठता था और अगर उसके पास परवाना नहीं हुआ तो उसे गिरफ्तार कर लेते। फेरीवाले इस काममें बढ़े। उनके लिए गिरफ्तार होना भी आसान था। फेरीका परवाना नहीं बताया कि हुए गिरफ्तार। इस प्रकार गिरफ्तारियाँ होते-होते एक सप्ताहके अन्दर कोई १०० सत्याग्रही कैदी हो गए। और भी आ ही रहे थे। इसलिए हमें तो बिना ही अखबारके खबरें मिल जाया करतीं। ये भाई नित नई खबरें लाते थे। जब सत्याग्रही बड़ी तादादमें गिरफ्तार होने लगे तब उन्हें सख्त कैदकी सजा दी जाने लगी।

जोहान्सबर्ग जेलमें सादी कैदके कैदियोंको सुबह मक्कीका दलिया मिलता था। दलियेमें नमक नहीं रहता था। वह अलगसे दिया जाता था। दोपहरको बारह बजे एक पाव भात, थोड़ा नमक और आधी छटाँक घीके साथ एक डबल रोटी भी मिलती थी। शामको मक्कीके आटेकी राब और थोड़ी आलूकी तरकारी मिलती। आलू अगर छोटे होते तो दो, और बड़े होते तो एक मिलता था। इसलिए उससे किसीका पेट नहीं भरता था। चावल पतले पकाये जाते। जेलके डाक्टरसे कुछ मसाले माँगे गये, और कहा गया कि मसाला भारतकी जेलोंमें भी दिया जाता है तो डाक्टरने कड़ककर जवाब दिया—"यह हिन्दुस्तान नहीं है। कैदी को स्वाद कैसा? मसाला नहीं मिल सकता।" तब हमने दाल माँगी, क्योंकि जो खाना हमें दिया जाता था, उसमें स्नायु-पोषक द्रव्य एक भी नहीं था। उसपर डाक्टरने उत्तर दिया कि कैदियोंको डाक्टरी दलीलें नहीं देनी चाहिए। तुम लोगोंको स्नायु-पोषक खुराक भी दी जाती है, क्योंकि सप्ताहमें दो बार मक्की के बदले शामको मटर दी जाती है। सप्ताह अथवा पखवाड़ेमें जुदे-जुदे गुणवाली खुराक जुदे-जुदे समयपर एक साथ लेकर यदि मनुष्य उसके सत्त्वको आकर्षित कर सकता हो तब तो डाक्टरकी दलील ठीक थी। पर बात यह थी कि डाक्टर किसी प्रकार हमारी बात सुनना ही नहीं चाहता था, परन्तु सुपरिंटेंडटने

हमारी इस सूचनाको मंजूर किया कि हम अपना भोजन खुद ही पका लिया करें। थंबी नायडूको हमने अपना पाक-शास्त्री बनाया। चौकेमें उन्हें कितने ही झगड़े करने पड़ते थे। साग अगर कम मिलता तो और माँगते। यही हाल दूसरी चीजोंका भी था, पर हमारे जिम्मे केवल दोपहरका भोजन पकाना किया गया था। यह स्वतंत्रता मिलनेपर भोजन कुछ सन्तोषजनक मिलने लगा।

पर ये सुविधाएँ मिलें या न मिलें, हम सबने तो यही निश्चय किया था कि इस जेलकी सजाको सुखपूर्वक ही काटें। सत्याग्रही कैदियोंकी संख्या बढ़ते-बढ़ते १५० तक चली गई।

इस प्रकार कोई १५ दिन बीते होंगे कि नये कैदी खबर लाने लगे कि सरकारके साथ सुलहकी कोई बातचीत चल रही है। मुझे जनरल स्मट्ससे मिलने बुलाया गया और यह तजवीज पेश की गई कि "भारतीय स्वेच्छासे अपने परवाने बदलवा लें। उनपर कानूनकी कोई पाबंदी न रहेगी। नवीन परवाना भारतीयों-की सलाहसे बनाया जाय और यदि भारतीय इसे स्वेच्छासे मंजूर कर लें तो यह काला कानून रद हो जायगा और सब कैदी छोड़ दिये जायेंगे।" सत्याग्रहीके नाते मैं ऐसे समझौतेको नामंजूर नहीं कर सकता था। फलतः कैदी छोड़ दिये गए और मैं अपने देश-बन्धुओंको समझौतेकी शर्तें समझानेमें लग गया।

३४

स्मरणीय प्रसंग—१

जेलसे छूटकर मैं सीधा जोहान्सबर्ग पहुँचा। उसी रात ११-१२ बजे सभा हुई। सूचनाके लिए समय बहुत कम मिला था, रात भी ज्यादा बीत गई थी, पर तो भी लगभग १००० आदमी जुट गए थे। सभामें दो पठानोंको छोड़ किसीने समझौते-का विरोध नहीं किया, क्योंकि पठानोंको यह बात जँच नहीं रही

थी कि स्वेच्छासे भी अँगुलियोंकी छाप देना मुनासिब है।

१० फरवरी १९०८ को हम कितने ही लोग परवाना लेने जानेको तैयार हुए। लोगोंको खूब समझा दिया गया था कि वे अपने-आप परवाने ले लें। यह भी तय हो चुका था कि पहले दिन खास-खास लोग ही परवानें लें। उसके तीन कारण थे। एक तो यह कि लोगोंके दिलसे भय को भगा दें। दूसरे यह देखना था कि एशियाटिक आफिसके लोग कामको सचाई और सभ्यतासे करते हैं या नहीं, और तीसरा कौमकी देखभाल करना। मेरा दफ्तर ही सत्याग्रह-आफिस था। मैं वहाँ पहुँचा तो मैंने आफिसके मकानके बाहर मीर आलम और उसके मित्रोंको देखा। मीर आलम मेरा पुराना मवक्किल था। अपने तमाम कामोंमें वह मेरी सलाह लेता था। वह छः फुट से अधिक ऊँचा जवान था। शरीर भी दुहरा था। आज मैंने मीर आलमको पहले-पहल ही इस प्रकार आफिसके बाहर खड़े हुए देखा। वह अक्सर अंदर आकर बैठ जाया करता था। हमारी आँखें मिलीं, पर यह पहला ही मौका था जब उसने सलाम नहीं किया। जब मैंने सलाम किया तो उसने भी किया। अपने रिवाजके मुताबिक मैंने पूछा—"कैसे हो ?" मुझे कुछ-कुछ ऐसा याद है कि उसने उत्तर में कहा—"अच्छा हूँ !" पर आज उसका चेहरा हमेशाकी तरह प्रसन्न नहीं था। मैंने यह देखा और अपने दिलमें उतार लिया। उसी समय यह भी सोच लिया कि आज कुछ गड़बड़ होगी। मैं आफिसके अंदर घुसा। शीघ्र ही ईसप मियाँ, जो कि अध्यक्ष थे, अन्य मित्रोंके साथ आ पहुँचे और हम एशियाटिक आफिसकी ओर रवाना हुए। मीर आलम और उसके साथी पीछे-पीछे हो लिये।

एशियाटिक आफिसवाला मकान मेरे आफिससे एक मीलसे भी कम फासलेपर था। वह एक बड़े मैदानमें था। वहाँ हमें एक बड़ी सड़कपर होकर जाना पड़ता था। आफिस कोई पाँच कदम रहा होगा कि मीर आलम मेरी बगलमें आ पहुँचा और

उसने पूछा—"कहां जा रहे हो ?" मैंने जवाब दिया—"दस अँगुलियोंकी छाप देकर परवाना निकलवाना चाहता हूं। अगर तुम भी चलोगे तो तुम्हें दसों अँगुलियोंकी छाप नहीं देनी होगी; तुम्हारा परवाना पहले निकलवाकर बादमें अपनी अँगुलियोंकी छाप देकर अपना परवाना निकलवाऊँगा।" यह मैं कह ही रहा था कि इतनेमें मेरे सिरपर पीछेसे एक लाठी आकर लगी। मैं बेहोश होकर औंधे मुंह गिर पड़ा और मुंहसे निकला—"हे राम !" इसके बाद क्या हुआ सो मैं नहीं जानता, पर मीर आलम और उसके साथियोंने और भी लाठियां और लातें मुझे लगाईं ! चारों ओर शोर मच गया। राहगीर गोरे इकट्ठे हो गये। मीर आलम और उसके साथी भागे, मगर गोरोंने पकड़ लिया, तबतक पुलिस भी वहां आ पहुंची। पुलिसने उन्हें हिरासतमें ले लिया। पास ही एक गोरेका आफिस था। वहां मुझे उठाकर ले गये। थोड़ी देरमें मुझे होश आया, तब मैंने रेवरेंड डोकको अपने ऊपर झुके हुए देखा। उन्होंने पूछा—"अब कैसे हो ?" मैंने हंसकर कहा—"मैं तो ठीक हूं, पर मरे दांत और पसलियोंमें दर्द है। मीर आलम कहां है ?" उत्तर मिला—"वह और उसके साथी तो गिरफ्तार कर लिये गए।" मैंने कहा—"तो उन्हें छूटना चाहिए।" डोकने उत्तर दिया—"यह सब होता रहेगा। यहां तो आप एक अपरिचित गृहस्थके आफिसमें पड़े हुए हैं। आपके होंठ और गाल बुरी तरह फट गये हैं। पुलिस अस्पताल ले जाना चाहती है, पर अगर आप मेरे यहां चलें तो मिसेज डोक और मैं अपनी शक्ति भर आपकी शुश्रूषा करेंगे।" मैंने कहा—"हां, मुझे अपने यहां ले चलिए। पुलिसको मिहरबानीके लिए मेरी ओरसे उसका एहसान मान लीजिए। उन लोगोंसे कहियेगा कि मैं आपके यहां जाना चाहता हूं।"

इतनेमें एशियाटिक आफिसके अधिकारी मि० चमनी भी आ पहुंचे। एक गाड़ीमें डालकर मुझे इन पादरी सज्जनके मकानपर ले गये। डाक्टर बुलाया गया, पर इस बीचमें ही मैंने

मि० चमनीसे कहा—"मैं तो यह उम्मीद करता था कि आपके दफ्तरमें जाकर दसों अंगुलियोंकी छाप देकर सबसे पहले अपना परवाना लूं, पर ईश्वरको यह मंजूर न था। अब कृपया यहींपर अपने कागज मंगवाकर मुझे रजिस्टर कर लीजिए। मैं आशा करता हूं कि आप मुझसे पहले किसीकी रजिस्ट्री न करेंगे।" उन्होंने कहा—"ऐसी कौन जल्दी पड़ी है। अभी डाक्टर साहब आते हैं। आपको जरा तसल्ली हो जाने दीजिए, फिर सब होता रहेगा। दूसरोंको परवाने अगर दूंगा तो भी आपका नाम सबसे पहले रक्खूंगा।"

मैंने कहा—"यह नहीं हो सकता। मेरी तो यह प्रतिज्ञा है कि अगर जिंदा रहा और परमात्मा ने चाहा तो मैं ही सबसे पहले परवाना लूंगा। इसीलिए तो मैं इतना आग्रह कर रहा हूं। आप कागज ले आइये।" मि० चमनी जाकर कागज ले आये।

मेरा दूसरा काम यह था कि अटर्नी जनरल अर्थात् सरकारी वकीलको यह तार कर दूं कि मीर आलम और उसके साथियोंने मुझपर जो हमला किया है, उसके लिए मैं उन्हें दोषी नहीं समझता। जो भी हो, मैं यह चाहता हूं कि आप उन्हें मेरी खातिर मुक्त कर दें। इस तारके फलस्वरूप मीर आलम और उसके साथी छोड़ दिए गए।

पर जोहान्सबर्गके गोरोंने अटर्नी जनरलको नीचे लिखे अनुसार एक लम्बा पत्र लिखा—

"मुलजिमोंको सजा देने न देनेके विषयमें गांधीजीके जो विचार हों, वे दक्षिण अफ्रीकामें नहीं चल सकते। खुद उन्हींको मारा है, इसलिए वह भले ही उनका कुछ न करें, पर मुलजिमोंने उन्हें उनके घरमें जाकर नहीं मारा है। जुर्म आम रास्तेपर हुआ है। यह एक सार्वजनिक अपराध है। कितने ही अंग्रेज इस बातका सबूत दे सकते हैं, इसलिए अपराधियोंका चालान करना जरूरी है।" इसपर सरकारी वकीलने मीर आलम और उसके एक साथी-को गिरफ्तार करवाया। उन्हें छः-छः महीनेकी सख्त सजा हुई।

हाँ, मुझे गवाह बनाकर नहीं बुलाया गया।

३५

स्मरणीय प्रसंग—२

मि० चमनी कागज वगैरा लेने गये तबतक डाक्टर आ पहुँचे। उन्होंने मेरे शरीरकी जाँच की। मेरा होंठ फट गया था, उसे जोड़ा, पसलियोंकी जाँच करके मालिश करनेकी दवा दी और होंठके टाँके टूटने न पावें, इसलिए धीरे-धीरे बोलनेकी इजाजत दी। इसमें मेरा बोलना तो बंद-सा हो गया, केवल हाथ हिला सकता था।

मैंने कौमके नाम एक छोटा-सा पत्र गुजरातीमें लिखकर अध्यक्षके द्वारा प्रकाशित करनेको भेज दिया। वह इस प्रकार है—

"मेरी हालत अच्छी है। मि० और मिसेज डोक मुझपर जान दे रहे हैं। मैं बहुत जल्दी अपना काम सम्भालने लायक हो जाऊँगा। हमला करनेवालोंपर मुझे कोई रोष नहीं है। उन्होंने अज्ञानके कारण ऐसा किया है। उनपर कोई मामला न चलाया जाय। अगर हम सब भाई शांत रहेंगे तो यह घटना भी हमारे लिए लाभदायक सिद्ध होगी।

"हिंदू लोग अपने दिलमें जरा भी नाराज न हों। मैं चाहता हूँ कि इस घटनाके कारण हिंदू-मसलमानोंके बीच वैमनस्य नहीं, पर प्रेम बढ़े। परमात्मासे मेरी यही प्रार्थना है।

"मुझे मार खानी पड़ी। शायद आगे और खानी पड़े, तो भी मैं तो यही सलाह दूंगा कि सब मिलकर यही प्रयत्न करें कि हममें-से अधिकांश व्यक्ति अपनी दसों अंगुलियोंकी छाप दें। कौमका और गरीबोंका भला इसीमें है। उसकी रक्षा इसीमें होगी।

"अगर हम सच्चे सत्याग्रही होंगे तो मारकी, या भविष्यमें विश्वासघात होनेकी, आशंकासे जरा भी नहीं डरेंगे। जो दस अंगुलियोंकी छाप न देनेवाली बातपर ही अड़े हुए हैं, वे गलती

कर रहे हैं।

"मैं परमात्मासे प्रार्थना करता हूँ कि वह कौमका भला करे। उसे सत्यमार्गपर ले चले और मेरे खूनसे हिंदू तथा मुसलमानोंको एक करे।"

मि० चमनी कागजात लेकर लौटे। बड़ी मुश्किलसे मैंने अपनी अँगुलियोंकी छाप दी। उस समय मैंने उनकी आँखोंमें आँसू देखे। उनके खिलाफ तो मुझे बड़े सख्त लेख लिखने पड़े थे, पर उस समय मेरी आँखोंके सामने इस बातका चित्र खड़ा हो गया कि मौका पड़नेपर मनुष्यका हृदय कितना कोमल हो सकता है। इस कार्रवाईमें बहुत समय नहीं लगा। फिर भी मि० डोक और उनकी धर्मपत्नी बड़े अधीर हो रहे थे कि मैं शीघ्र शांत और स्वस्थ हो जाऊँ। चोटके बाद मेरी मानसिक प्रवृत्तिके कारण उन्हें दुःख हो रहा था। उन्हें यह भी भय था कि कहीं मेरे स्वास्थ्यपर इसका विपरीत असर न हो। इसलिए संकेत द्वारा तथा और तरकीबसे वे पलंगके पाससे सबको दूर ले गये और मुझे लिखने वगैराकी मनाही कर दी। मैंने चाहा (और उसे लिखकर प्रकट किया) कि सोनेसे पहले और चित्त-शांतिके लिए उनकी लड़की ओलिव, जो उस समय बालिका थी, मुझे मेरा प्रिय अंग्रेजी भजन Lead kindly light (प्रेमल ज्योति) सुना दे। मेरी इस इच्छाको डोकने खूब पसन्द किया। यह लिखते समय वह सारा दृश्य मेरी आँखोंके सामने खड़ा हो रहा है और ओलिवकी वे दिव्य तानें अब भी मेरे कानोंमें गूंज रही हैं।

३६

फिर सत्याग्रह

पिछले प्रकरणमें हमने देखा कि किस तरह भारतीयोंने खुद-ब-खुद अपनी रजिस्ट्री करा ली। उससे ट्रांसवाल-सरकारको भी संतोष हुआ। अब सरकारकी बारी थी। उसे 'काला कानून'

रद कर देना था और अगर उसने ऐसा किया होता तो सत्याग्रह-संग्राम खत्म हो गया होता। मगर उस काले कानूनको रद करनेके बजाय जनरल स्मट्सने एक नई ही कारंवाई की। उन्होंने एक वक्तव्य प्रकाशित किया, जिसके द्वारा एक ओर तो काला कानून बहाल रखा और दूसरी ओर उन ऐच्छिक परवानोंको कानूनी करार दिया, पर उस वक्तव्यमें उन्होंने एक वाक्य यह भी डाल दिया था कि जो भारतीय अबतक परवाना ले चुके हैं, उनपर काले कानूनका अमल नहीं होगा।

इसको पढ़कर मैं तो बिलकुल किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया।

मैंने जनरल स्मट्सको एक चिट्ठी लिखी, लेकिन राज-नीतिज्ञोंका यह कायदा होता है कि वे प्रायः ऐसी बातोंका जवाब नहीं देते, जो उन्हें उलझनमें डालती हैं। अगर देते हैं भी तो गोल-मोल।

तब हमने ट्रांसवाल सरकारको एक जोरदार पत्र लिखा, जिसमें कहा गया था कि यदि समझौतेके मुताबिक 'एशियाटिक कानून' रद नहीं किया गया; और अगर ऐसा करनेके सम्बन्धमें सरकारके निश्चयकी खबर नियत समयसे पहले कौंसिलको न मिली तो वह उन तमाम परवानोंको जला देगी जिनको उसने एकत्र कर रखा है और यह करनेके लिए उसपर जो मुसीबतें आवेंगी, उन सबको वह विनय और दृढतापूर्वक सहेगी।

इस अल्टीमेटम अथवा निश्चय-पत्रकी आखिरी मियादका दिन वही रखा गया था, जिस दिन कि वह दूसरा एशियाटिक कानून मंजूर होनेको था। मियाद बीतनेके दो घण्टे बाद परवाने जलानेका सार्वजनिक समारोह करनेके हेतु एक सभा बुलाई गई थी। सत्याग्रह-कमेटीने सोचा था कि अगर कहीं सरकार अनुकूल उत्तर भेजदे (यद्यपि यह एक अकल्पित बात ही होती) तो भी वह सभा निरर्थक न सिद्ध होती क्योंकि यदि ऐसा ही होता तो उस सभा द्वारा सरकारका अनुकूल निश्चय ही जाहिर किया जा सकता था।

सभाका काम शुरू होनेवाला ही था कि इतनेमें एक स्वयं-सेवक बाईसिकलपर चढ़ा आ पहुँचा। उसके हाथमें एक तार था। वह सरकारका उत्तर था। उसमें कौमके निश्चयपर दुःख प्रकट करते हुए जाहिर किया गया था कि सरकार अपने निश्चय-को नहीं बदल सकती। तार सभामें पढ़कर सुना दिया गया। सभाने उसका बड़ा स्वागत किया, मानो सरकार यदि निश्चय-पत्रकी माँगोंको मंजूर कर लेती तो परवानोंकी होली जलाने-का शुभ अवसर हाथसे चला जाता।

सभाका कार्य शुरू हुआ। अध्यक्षने सभाको सावधान किया, सारी परिस्थिति समझाई और प्रसंगोचित प्रस्ताव स्वीकृत किये गये।

अबतक कमेटीके पास दो हजारसे भी अधिक परवाने जलानेके लिए आ पहुँचे थे। उनके बंडलको मैंने एक कड़ाहीमें फैलाया। ऊपरसे मिट्टीका तेल छिड़का और आग लगा दी। एकदम सारी सभा खड़ी हो गई और जबतक वे परवाने जलते रहे, तालियोंसे उसने सारे मैदानको गुंजा दिया। कितने ही लोगोंने अब भी अपने परवाने रख छोड़े थे। अब उनकी वर्षा मंचपर होने लगी। ये भी कड़ाहीमें झोंक दिये गये।

अंग्रेजी अखबारोंके संवाददाता भी इस सभामें आये थे। उनपर भी उस दृश्यका बड़ा अच्छा असर पड़ा। उन्होंने अपने समाचारपत्रोंको सभाका पूरा वर्णन भेजा।

धारा सभाकी जिस बैठकमें (दूसरा) एशियाटिक कानून मंजूर किया गया, उसीमें जनरल स्मट्सने एक और बिल पेश किया। उसका नाम था—'इमिग्रंट्स रिस्ट्रिक्शन बिल' अर्थात् नवीन बस्तीका नियमन करनेवाला कानून। यह इस तरकीबसे बनाया गया था कि अप्रत्यक्ष रूपसे वहाँ एक भी नवीन भारतीय प्रवेश नहीं पा सकता था।

उसका विरोध करना तो कौमके लिए बड़ा ही आवश्यक था, क्योंकि वह उनके अधिकारों पर एक नया कुठाराघात

था । अगले दो सालमें पड़ोसके नेटालसे बहुत-से सत्याग्रही स्वेच्छासे ट्रांसवालमें प्रविष्ट हुए थे और वे वोकसरस्टकी जेलमें रखे गये थे । नेटालके इन मित्रोंका साथ देनेकी इच्छासे दूसरे बहुत-से उत्साही लोगोंने, जिन्होंने अपने परवाने जला दिये थे, बाजारमें साग-सब्जीकी टोकरी लगाना शुरू कर दिया। इसके लिए परवानेकी जरूरत थी और चूंकि वे बिना परवानेके थे, अतः गिरफ्तार कर लिये गए । एक समय वोकसरस्ट जेलमें भारतीयोंकी संख्या ७५ तक पहुँच गई थी । सरकार इन सत्याग्रहियोंके जमावसे परेशान हो रही थी, जेलमें डालनेके बदले देश-निकाला देना शुरू किया । इससे जरूर कुछ भारतीय कमजोर पड़े, मगर बहुतेरे बिलकुल दृढ़ और प्रसन्न रहे और लड़ाई चलाते रहे ।

३७

टॉल्स्टॉय-आश्रम

अबतक (१९१० ई०) तो जेल जानेवाले कुटुम्बोंका पोषण उनको प्रतिमास द्रव्य देकर किया जाता था । यह बहुत असंतोष-जनक और सार्वजनिक धनका दुर्व्यय सिद्ध हुआ; लेकिन जो लोग बराबर जेल जाते थे, वे बीचके दिनोंके लिए रहें भी कहाँ, यह प्रश्न था, क्योंकि उन्हें तो कोई नौकरीपर रखता नहीं था । इन दोनों कठिनाइयोंका एक ही हल था। वह यह कि तमाम सत्याग्रही और उनके कुटुम्बी सब एकसाथ रहें और एक बड़े कुटुम्बके लोगोंकी तरह हिल-मिलकर काम करें । इसके लिए मि० केलनबेकने अपनी ग्यारह सौ एकड़ जमीन मुफ्तमें हमें प्रदान कर दी । इस खेतमें कोई एक हजार पेड़ थे । उसके सिरेपर एक छोटी-सी टेकड़ी थी जिसपर एक छोटा-सा मकान भी था । दो कुएं थे, एक छोटा-सा झरना भी था, जहांसे स्वच्छ पानी मिलता था । लाली रेलवे स्टेशन वहांसे कोई एक मील पड़ता

था और जोहान्सबर्ग २१ मील। बस, इसी जमीनपर मकान बांधकर सत्याग्रही कुटुम्बोंको बसानेका निश्चय किया। इस खेतमें संतरा, खुमानी और बेर खूब पैदा होते थे, इतनी तादादमें कि मोसममें सत्याग्रहियोंके भर-पेट खानेपर भी बच रहते। झरना रहनेके स्थानसे कोई पांच सौ गजके फासले पर था। हमने यह नियम रखा कि नौकरोंके द्वारा किसी प्रकारका घरू, खेती या मकान बांधनेका काम भी न लिया जाय। इसलिए पाखाना साफ करनेसे लेकर खाना पकानेतकका सभी काम प्रत्येक कुटुम्बको करना पड़ता था। कुटुम्बोंको रखनेमें यह नियम पहले हीसे बना लिया था कि स्त्रियों और पुरुषोंको अलग-अलग ही रखा जाय। इसलिए मकान भी अलग-अलग और दूर-दूर ही बनाये गए। शुरूमें १■ स्त्रियों और ६० पुरुषोंके रहने योग्य मकान बनानेका निश्चय किया गया। मि० केलनबेकके रहनेके लिए भी मकान बनाना था। साथ ही एक पाठशाला के लिए भी मकान बनाना था। इसके अलावा बढ़ईखाना, मोचीखाना आदिके लिए भी एक मकान बना लेना जरूरी था।

यहांपर रहनेके लिए जो लोग आनेवाले थे, वे गुजरात, मद्रास, आंध्र तथा उत्तर भारतके थे। धर्मके अनुसार वे हिन्दू, मुसलमान, पारसी और ईसाई थे। लगभग ४० युवक, २-३ बूढ़े, ५ स्त्रियां और २५-३० बच्चे थे, जिनमें ४-५ कुमारियां थीं। इस आश्रममें आकर कमजोर आदमी भी सशक्त हो गये और सभी परिश्रमके आदी हो गए। सभीको किसी-न-किसी कामसे जोहान्सबर्ग जाना पड़ता। बच्चोंको वहांकी सैर करनेकी इच्छा होती। मुझे भी काम-काजके लिए वहां जाना पड़ता। इसलिए यह तय किया कि सार्वजनिक कामके लिए जानेवालोंको ही रेलसे जानेकी छुट्टी दी जाय। जिसे केवल सैर करनेके लिए जाना हो, वह पैदल जावे। हां, रास्तेमें नाश्तेके लिए जरूर कुछ ले जा सकते हैं। शहरमें अपने खानेपर कोई खर्च न करे। यदि इतने कड़े नियम नहीं बनाये जाते तो जिन पैसोंकी बचत करनेके लिए वनवासके

कष्ट उठाये थे, वे रेल-किराये और शहरके नाश्ते-खर्चमें ही उठ जाते। घरसे हम लोग जो नाश्ता ले जाते, वह भी सादा ही होता था। हाथके पिसे मोटे और बिना छने आटेकी रोटी, मूंगफलीसे घरपर बनाया हुआ मक्खन और संतरेके छिलकोंका मुरब्बा। आटा पीसनेके लिए हाथसे चलानेकी लोहेकी चक्की खरीद ली गई थी। मूंगफलीको भूनकर पीस डालनेसे मक्खन बन जाता है। दूधसे बनाये मक्खनसे इसकी कीमत एक-चौथाई होती थी। सन्तरे तो आश्रममें ही पैदा होते थे। आश्रममें गायका दूध शायद ही कभी खरीदते। अक्सर डिब्बेके दूधसे ही काम चला ले जाते।

जिनको सैर करनेके लिए जोहान्सबर्ग जानेकी इच्छा होती थी, वे सप्ताहमें १-२ बार जाते, पर उसी दिन लौट आते। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि फासला २१ मीलका था, पैदल जानेके इस नियमसे सैकड़ों रुपये बच गए और पैदल जानेवालोंको भी बड़ा लाभ हुआ—कितनों हीको तो चलनेका नवीन अभ्यास हो गया। नियम यह था कि इस तरह जानेवालेको रातको दो बजे उठकर २॥ बजे निकल पड़ना चाहिए। कम-से-कम समयमें पहुंचनेवालोंको ४ घंटे और १८ मिनट लगते।

हमारा उद्देश्य यह था कि सत्याग्रही कुटुम्बोंको उद्यमी रखें, पैसे बचावें और अन्ततः हम कुछ स्वाश्रयी बन जावें। हमने सोचा कि अगर हम इतना कर सके तो चाहे जितने समय-तक लड़ सकेंगे। हमने जूतोंका एक कारखाना भी खोल लिया था। पास ही जर्मन कैथलिक पादरियोंका एक मठ था। वहां-पर चप्पलें बनाना सिखाया जाता। उस मठमें जाकर मि० केलनबेकने चप्पलें बनाना सीख लिया और मुझे तथा दूसरे साथियोंको भी सिखा दिया। मैंने खुद दर्जनों चप्पलें बनाई हैं। मेरे कई चेले इस कलामें मुझसे बहुत आगे बढ़ गये। अपने मित्रोंमें हम उन चप्पलोंको बेचते भी थे। हमने बढ़ईका काम शुरू किया। हम बेंचसे लेकर संदूकतक छोटी-मोटी चीजें

खुद ही बना लेते थे। आश्रमके लिए पाठशाला तो होनी ही चाहिए। पर वह काम सबसे कठिन मालूम हुआ और अबतक पूर्णताको नहीं पहुँचा। शिक्षाका भार खास मि० केलनबेक और मुझपर था। पाठशालाका समय दोपहरके बाद ही रखा जा सकता था। मजदूरी करते-करते हम दोनों खूब थक जाते और मारे नींदके हम झोंके खाते और आँखोंपर पानी लगाकर नींद भगाते। बच्चोंके साथ हँसी-खेल करते और उनका तथा अपना भी आलस्य भगाते; पर कई बार यह सब प्रयत्न निष्फल होता। शरीरको आवश्यक आराम देना ही पड़ता; परन्तु यह तो पहला और सबसे छोटा विघ्न हुआ, क्योंकि ऊँघते रहनेपर भी हम वर्गको तो चालू ही रखते, किंतु सबसे बड़ी कठिनाई तो यह थी कि तमिल, तेलगू और गुजराती इन तीनों भाषाओंके बोलनेवालोंको एकसाथ क्या और किस तरह पढ़ाया जाय? मातृभाषाके द्वारा शिक्षा देनेका लोभ तो हमें अवश्य ही रहता था। तमिल तो मैं कुछ जानता भी था, पर तेलगू बिलकुल नहीं। इस हालतमें अकेला एक शिक्षक क्या कर सकता था?

पर यह शिक्षा-प्रयोग व्यर्थ साबित नहीं हुआ। लड़कोंमें कभी असहिष्णुता नहीं दिखाई दी। एक-दूसरेके धर्म और रीति-नीतिका उन्होंने आदर करना सीखा, सभ्यता सीखी और उद्यमी भी बने। आज भी उन बालकोंमेंसे जितनोंको मैं जानता हूँ उनके कार्योंको देखते हुए मुझे यही मालूम होता है कि टॉल्स्टॉय-आश्रममें उन्होंने जो कुछ सीखा था, वह व्यर्थ नहीं गया। अधूरा-सा ही सही, पर था यह विचारमय और धार्मिक प्रयोग। टॉल्स्टॉय-आश्रमकी अत्यंत मधुर स्मृतियोंमें शिक्षाप्रयोगकी स्मृति किसी प्रकार कम मधुर नहीं है।

३८

अच्छे-बुरेका मेल

टॉल्स्टॉय-आश्रममें मि० केलनबेकने मेरे सामने एक प्रश्न खड़ा कर दिया था। इससे पहले मैंने उसपर कभी विचार नहीं किया था। आश्रममें कितने ही लड़के बड़े ऊधमी और आवारा भी थे। उन्हींके साथ मेरे तीन लड़के रहते थे। दूसरे लड़के भी थ, जिनका कि लालन-पालन मेरे लड़कोंकी ही तरह हुआ था परन्तु मि० केलनबेकका ध्यान तो इसी बातकी तरफ था कि आवारा लड़के और मेरे लड़के एकसाथ इस तरह नहीं रह सकते। एक दिन उन्होंने कहा—"आपका यह सिलसिला मुझे बिलकुल नहीं जंचता। इन लड़कोंके साथ आपके लड़के रहेंगे तो इसका बुरा नतीजा होगा। उन आवारा लड़कोंकी सोहबतसे ये बिगड़े बिना कैसे रहेंगे?"

इसको सुनकर मैं सोचमें पड़ा या नहीं, यह तो मुझे इस समय याद नहीं, परन्तु अपना उत्तर मुझे याद है। मैंने जवाब दिया—"अपने लड़कों और इन आवारा लड़कोंमें मैं भेद-भाव कैसे रख सकता हूं? अभी तो दोनोंकी जिम्मेदारी मुझपर है। ये लड़के मेरे बुलाये यहां आये हैं। यदि मैं रुपये दे दूं तो ये आज ही जोहान्सबर्ग जाकर पहले की तरह रहने लग जायंगे। आश्चर्य नहीं यदि उनके माता-पिता यह समझते हों कि उन लड़कोंने यहां आकर मुझपर बहुत मिहरबानी की है। यहां आकर वे असुविधा उठाते हैं, यह तो आप और मैं दोनों देख रहे हैं। सो इस संबंधमें मेरा धर्म मुझे स्पष्ट दिखाई दे रहा है। मुझे उन्हें यहीं रखना चाहिए, मेरे लड़के भी उन्हींके साथ रहेंगे। फिर क्या आजसे ही मेरे लड़कोंको यह भेद-भाव सिखावें कि ये औरोंसे ऊंचे दर्जेके हैं? ऐसा विचार उनके दिमागमें डालना उन्हें उल्टे रास्ते ले जाना है। इस स्थितिमें रहनेसे उनका जीवन बनेगा, स्वयं भले-बुरेकी परीक्षा करने लगेंगे। हम यह क्यों न मानें कि उनमें

यदि सचमुच कोई गुण होगा तो उसीका असर उनके साथियोंपर होगा ? जो कुछ भी हो, पर मैं तो उन्हें नहीं हटा सकता और ऐसा करनेमें यदि कुछ जोखिम हो तो उसके लिए हमें तैयार रहना चाहिए।" इसपर मि० केलनवेक सिर हिलाकर रह गये।

नहीं कह सकते कि इस प्रयोगका नतीजा बुरा हुआ। मैं नहीं मानता कि मेरे लड़कोंको इससे कुछ नुकसान हुआ। हाँ, लाभ होता हुआ तो अलबत्ता मैंने देखा है। उनमें बड़प्पनका यदि कुछ अंश रहा होगा तो वह चला गया, उन्होंने सबके साथ मिल-जुलकर रहना सीखा।

इससे तथा ऐसे दूसरे अनुभवोंसे मेरा यह खयाल बना कि यदि माँ-बाप ठीक-ठीक निगरानी रख सकें तो उनके भले और बुरे लड़कोंके एकसाथ रहने और पढ़नेसे अच्छे लड़कोंका किसी प्रकार नुकसान नहीं हो सकता। अपने लड़कोंको घरमें बन्द कर रखनेसे वे शुद्ध ही रहते हैं और बाहर निकालनेसे वे बिगड़ जाते हैं, यह कोई नियम नहीं है। हाँ, यह बात जरूर है कि जहाँ अनेक प्रकारके बालक और बालिकाएँ एकसाथ रहते और पढ़ते हों, वहाँ माँ-बापकी और शिक्षककी कड़ी जाँच हो जाती है। उन्हें बहुत सावधान और जागरूक रहना पड़ता है।

इस तरह लड़के-लड़कियोंकी सच्चाई और ईमानदारीके साथ परवरिश करने और पढ़ाने-लिखानेमें कितनी और कैसी कठिनाइयाँ हैं, इसका अनुभव दिन-दिन बढ़ता गया। शिक्षक और संरक्षककी हैसियतसे मुझे उनके हृदयोंमें प्रवेश करना था। उनके सुख-दुःखमें हाथ बँटाना था। उनके जीवनकी गुत्थियाँ सुलझानी थीं। उनकी चढ़ती जवानीकी तरंगोंको सीधे रास्ते ले जाना था।

कितने ही कैदियोंके छूट जानेके बाद टॉल्सटॉय-आश्रममें थोड़े ही लोग रह गये। ये खास करके फिनिक्सवासी थे। इसलिए मैं आश्रमको फिनिक्स ले गया। फिनिक्समें मेरी कड़ी परीक्षा हुई। इन बचे हुए आश्रम-वासियोंको टॉल्सटॉय-आश्रमसे फिनिक्स

पहुँचाकर मैं जोहान्सबर्ग गया। थोड़े ही दिन जोहान्सबर्ग रहा होऊँगा कि मुझे दो व्यक्तियोंके पतनके समाचार मिले। सत्याग्रह-जैसे संग्राममें यदि कहीं भी असफलता-जैसी कुछ चीज दिखाई देती तो उससे मेरे दिलको चोट नहीं पहुँचती थी, परन्तु इस घटनाने तो मुझपर वज्र-प्रहार ही कर दिया। मेरे दिलमें घाव हो गया। उसी दिन मैं फिनिक्स रवाना हो गया। मि० केलनवेक-ने मेरे साथ जानेका आग्रह किया। वह मेरी दयनीय स्थितिको समझ गये थ। जोर देने लगे मैं आपको अकेला नहीं जाने दूंगा। इस पतनकी खबर मुझे उन्हींके द्वारा मिली थी। रास्तेमें ही मैंने सोच लिया, अथवा यों कहूँ कि मैंने मान लिया कि इस अवस्थामें मेरा धर्म क्या है ? मेरे मनने कहा कि जो लोग हमारे संरक्षणमें हैं, उनके पतनके लिए संरक्षक और शिक्षक किसी-न-किसी अंशमें जरूर जिम्मेदार हैं और इस दुर्घटनाके संबंधमें तो मुझे अपनी जिम्मेदारी साफ-साफ दिखाई दी। मेरी पत्नीने मुझे पहले ही चेताया था; पर मैं स्वभावतः विश्वासशील हूँ, इससे मैंने उसकी चेतावनीपर ध्यान नहीं दिया था। फिर मुझे यह भी प्रतीत हुआ कि ये पतित लोग मेरी व्यथाको तभी समझ सकेंगे जब मैं इस पतनके लिए कुछ प्रायश्चित्त करूँगा। इसीसे उन्हें अपने दोषोंका ज्ञान होगा और उसकी गम्भीरताका कुछ अन्दाज मिलेगा। इस कारण मैंने सात दिनके उपवास और साढ़े चार मास तक एक समय भोजन करनेका विचार किया। मि० केलनबेकने मुझे रोकने-की बहुत कोशिशकी; पर उनकी न चली। अन्तमें उन्होंने प्रायश्चित्तके औचित्यको माना और अपने लिए भी मेरे साथ व्रत रखनेपर जोर दिया। उनके प्रेमको मैं न रोक सका। इस निश्चयके बाद ही तुरन्त मेरा हृदय हलका हो गया, मुझे शान्ति मिली। दोष करनेवालोंपर जो-कुछ गुस्सा आया था, वह दूर हुआ और उनपर दया ही आती रही।

इस तरह ट्रेनमें ही अपने हृदयको हलका करके मैं फिनिक्स पहुँचा। पूछ-ताछकर जो कुछ बातें जाननी थीं, वे जान लीं।

यद्यपि मेरे इस उपवास से सबको बहुत कष्ट हुआ; पर उससे वातावरण शुद्ध हुआ। उस पापकी भयंकरता को सबने समझा और विद्यार्थी-विद्यार्थिनियोंका और मेरा सम्बन्ध अधिक मजबूत और सरल हुआ।

इस दुर्घटनाके सिलसिलेमें ही, कुछ समयके बाद, मुझे फिर चौदह दिनके उपवास करनेकी नौबत आई थी और मैं जानता हूं कि उसका परिणाम आशासे अधिक अच्छा निकला; परन्तु उन उदाहरणोंसे मैं यह सिद्ध नहीं करना चाहता कि शिष्योंके प्रत्येक दोषके लिए हमेशा शिक्षकको उपवासादि करना ही चाहिए; पर मैं यह जरूर मानता हूं कि मौकेपर ऐसे प्रायश्चित्त-रूप उपवासके लिए अवश्य स्थान है; किन्तु उसके लिए विवेक और अधिकारकी आवश्यकता है। जहां शिक्षक और शिष्यमें शुद्ध प्रेम-बन्धन नहीं, जहां शिक्षकको अपने शिष्यके दोषोंसे सच्ची चोट नहीं पहुंचती, जहां शिष्यके मनमें शिक्षकके प्रति आदर नहीं, वहां उपवास निरर्थक है और शायद हानिकारक भी हो; परन्तु ऐसे उपवास या एक समय भोजन करनेके विषयमें भले ही कुछ शंका हो; किंतु शिष्योंके दोषोंके लिए शिक्षक थोड़ा-बहुत जिम्मेदार जरूर है, इस विषयमें कुछ भी संदेह नहीं।

३६

बहनोंका हिस्सा—१

१९१२ के जाड़ेमें गोखले दक्षिण अफ्रीका आये। उनके आनेका उद्देश्य था—सरकार और सत्याग्रहियोंके बीच समझौता कराना। जनरल बोथासे मिलनेके बाद उन्होंने हमें यह आशा दिलाई कि सब मामला ठीक हो जायगा। उन्होंने कहा—"अगले साल काला कानून रद्द हो जायगा और तीन पौंडका टैक्स हटा दिया जायगा।"

दूसरा साल आया; लेकिन हमारी आशा पूरी न हुई और

१९१३ में टॉल्स्टॉय-आश्रमके निवासियोंको सत्याग्रहकी तैयारी करनी पड़ी, जिसका उद्देश्य था—तीन पौंडके करको हटवाना।

अबतक हमने स्त्रियोंको सत्याग्रहमें जेल जानेसे रोक रखा था—हालांकि वे अपने पतियोंके साथ जेल जानेके लिए उत्सुक रहती थीं; परन्तु अब एक ऐसी घटना हुई, जिसे देखते हुए यह मालूम होने लगा कि मानो परमात्मा स्वयं अदृश्य रूपसे भारतीयोंकी जीतके लिए कोई सामग्री तैयार कर रहे हों और मानो दक्षिण अफ्रीकाके गोरोंके अन्यायोंको अधिक स्पष्ट रीतिसे बता देना चाहते हों। एक ऐसा मामला अदालतमें आया, जिसमें न्यायाधीशने यह फैसला दिया कि दक्षिण अफ्रीकाके कानूनमें उसी विवाहके लिए स्थान है जो ईसाई-धर्मके अनुसार होता है—अर्थात् जो विवाह अधिकारीके रजिस्टरमें दर्ज कर लिया जाता है, उसके सिवा और किसी विवाहके लिए उसमें स्थान नहीं है। इस भयंकर फैसले के अनुसार हिंदू, मुस्लिम, पारसी सभी विवाह रद्द करार दे दिये गये और इसके अनुसार दक्षिण अफ्रीकामें विवाहित कितनी ही भारतीय स्त्रियोंका दर्जा धर्मपत्नीका न रहा। वे सरासर रखेलियां समझी जाने लगीं। स्त्रियोंका ऐसा अपमान होनेपर कैसे धीरज धारण किया जा सकता था? अब स्त्रियोंको सत्याग्रहमें शामिल होनेपर हम नहीं रोक सकते थे। यह निश्चय हुआ कि उन्हें सत्याग्रह-संग्राममें शामिल होनेके लिए निमंत्रित किया जाय। सबसे पहले टॉल्स्टॉय-आश्रममें रहनेवाली बहनोंको ही निमंत्रण दिया गया। वे स्वयं भी सत्याग्रहमें शामिल होनेके लिए तड़प रही थीं। संग्राममें आनेवाली तमाम कठिनाइयों और जोखिमोंका चित्र मने उनके सामने रखा। खान-पान, कपड़े-लत्ते, सोना-बैठना आदि सब बातोंमें उन्हें परतंत्रता रहेगी आदि समझाया। जेलमें सख्त मशक्कत करनी होगी, कपड़े धुलवाये जायंगे, अधिकारी लोग अपमान करेंगे इत्यादि बातोंसे भी उन्हें सावधान कर दिया पर वे बहनें तो एक बातसे भी नहीं डरीं—सब-की-सब बहादुर थीं। उनमेंसे एक तो गर्भवती

थी। कई बहनोंके गोदमें नन्हें-नन्हें बच्चे थे पर उन्होंने भी शामिल होनेका आग्रह किया। जिस प्रकार नेटाल से बिना परवाने ट्रांसवाल जाना गुनाह समझा जाता था, उसी प्रकार ट्रांसवालसे नेटाल आनेवाला भी गुनाहगार था। इसलिए यह निश्चय किया गया था कि इन लोगोंको सरहद लांघकर बिना परवानेके ट्रांसवालमें प्रवेश करनेके गुनाहमें गिरफ्तार करवा दें। इसी बीच जो बहनें गिरफ्तार करके छोड़ दी गई थीं, उन्हें वापस नेटाल भेजा जाय। अगर उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया तो ठीक, यदि नहीं तो नेटालकी कोयलेकी खानमें, जिनका केंद्र न्यू-कैसल था, चली जायें और वहांके मजदूरोंको खानें छोड़नेके लिए समझावें। मजदूर प्रायः मद्रास इलाकेके तमिल-तेलगू ही थे।

इसके बाद मैं फिनिक्स पहुंचा। वहां सबके साथ मैंने चर्चा की। सबसे पहले फिनिक्समें रहनेवाली बहनोंसे इस विषयमें बातचीत कर लेना था। मैं जानता था कि बहनोंको जेलमें भेजना एक भयंकर बात है। फिनिक्समें रहनेवाली बहुत-सी बहनें गुजराती थीं। इसलिए उन्हें ट्रांसवालवाली बहनोंके समान मुस्तैद और अनुभवी नहीं कह सकते थे। फिर उनमेंसे कितनी ही तो मेरी रिश्तेदार थीं, इसलिए संभव था कि केवल मेरे लिहाजसे जेल जाना मंजूर करलें और यदि ऐन वक्तपर घबड़ाकर अथवा जेलमें जानेके बाद कष्टोंसे डरकर माफी मांग लें तो मुझे कितना आघात पहुंचेगा, लड़ाई भी एकदम शिथिल हो जायगी, इत्यादि सभी बातोंपर विचार कर लेना जरूरी था। यह तो मैंने निश्चय ही कर लिया था कि अपनी पत्नीको मैं कभी नहीं ललचाऊंगा। एक तो वह ललचानेपर 'ना' कह नहीं सकती थी और यदि 'हां' कर भी ले तो मुझे यह निश्चय नहीं था कि उसकी 'हां' को कितना महत्त्व दिया जाय। ऐसे जोखिमके समय सभी अपने-आप जो काम करें, उसीको मंजूर करना हितकर होता है। इसलिए अन्य बहनोंके साथ मैंने बातचीत की। उन्होंने ट्रांसवालकी

बहनोंकी तरह फौरन बीड़ा उठा लिया और सब जेल-यात्रा करनेको तैयार हो गईं। उन्होंने मुझे विश्वास दिलाया कि हर प्रकारके कष्ट झेलकर भी वे जेल-यात्रा पूरी करेंगी। इन सब बातोंको मेरी पत्नीने सुन लिया। उसने मुझसे कहा—"मुझे दुःख है कि आप मुझसे इस विषयमें कोई बातचीत क्यों नहीं करते? मुझमें ऐसी कौन कमी है जो मैं जेल न जा सकूंगी? मैं भी तो उसी पथपर चलना चाहती हूं, जिसके लिए आप इन बहनोंको सलाह दे रहे हैं।" मैंने जवाब दिया—"तुम्हारे चित्तको मैं दुःखी तो कैसे कर सकता हूं? न इसमें अविश्वासकी कोई बात है। मैं तो तुम्हारे जवाबसे खुश हूं; पर मुझे इस बातका आभास तक पसंद नहीं कि तुम मेरे कहनेसे जेल गई हो। ऐसे काम सबको अपनी-अपनी हिम्मतपर ही करने चाहिए। यदि मैं तुमसे कहूं और तुम मेरी आज्ञाका पालन करनेके लिए जेल चली भी जाओ, पर अगर अदालतमें खड़े रहते समय तुम्हारे हाथ-पांव कांपने लगें, हिम्मत हार जाओ, जेलके कष्ट बरदाश्त न कर सको तो मेरा क्या हाल होगा? संसारमें हम ऊंचा सिर करके कैसे खड़े रह सकेंगे?" उत्तर मिला—"यदि मैं हिम्मत हारकर छूट आऊं तो मुझे स्वीकार मत करना। आप यह कल्पना भी किस तरह कर सकते हैं कि आप और हमारे बच्चे तो उन कष्टोंको सह सकते हैं और मैं उन्हें नहीं सह सकूंगी? मुझे तो आपको इस युद्धमें शामिल करना ही होगा।" मैंने उत्तर दिया—"तब तो हमें तुम्हें शामिल करना ही पड़ेगा। तुम मेरी शर्त जानती ही हो। मेरा स्वभाव भी जानती हो। अब भी विचार करना हो तो कर लो। पूरा विचार लेनेपर तुम्हें लगे कि शामिल न होना चाहिए तो तुम्हें छुट्टी है। आगे कदम बढ़ानेके पहले ही अपना निश्चय बदलनेमें कोई शर्मकी बात नहीं है।" उसने कहा—"मुझे कुछ सोचना-विचारना नहीं है, मैं अपने निश्चयपर दृढ़ हूं।"

फिनिक्समें और रहनेवाले भी थे। उन्हें भी मैंने इस प्रश्नपर स्वतंत्र रीतिसे विचार करनेके लिए कहा। संग्रामका अंत शीघ्र हो

या देरीसे, फिनिक्स बना रहे या मिट जाय, जानेवाले भले-चंगे रहें या बीमार हो जायँ, पर किसीको पीछे न हटना चाहिए—इत्यादि शर्तें मैंने बार-बार भली प्रकार समझा दीं। सब तैयार हो गये। फिनिक्सके बाहरवालोंमें केवल रुस्तमजी पारसी थे। उन्हें सब लोग प्रेमसे 'काकाजी' कहते थे। उनसे ये सब बातें मैं छिपा नहीं सकता था और न वे पीछे रह सकते थे। पहले सत्याग्रहम भी वे जेल जा चुके थे। अब दूसरी बार भी तैयार हो गये।

जैसा हमने सोचा था वैसा ही सब हुआ। जो बहनें ट्रांसवालमें गिरफ्तार न हो सकीं, वे निराश होकर अब नेटाल आईं मगर पुलिसने उन्हें गिरफ्तार नहीं किया। इसलिए वे न्यू-कैसल चली गईं और वहाँ अपना काम शुरू कर दिया। इसका असर बिजलीकी तरह हुआ। तीन पौंडके करकी बातका उनपर बहुत प्रभाव पड़ा। बस, मजदूरोंने अपना काम छोड़ दिया।

भला, अब सरकार उन बहादुर बहनोंको कैसे छोड़ सकती थी? उन्हें पकड़ा और तीन मासकी सजा दी गई।

४०

बहनोंका हिस्सा—२

स्त्रियोंकी बहादुरीका वर्णन करना कठिन है। वे सब नेटालकी राजधानी मेरित्सबर्गके जेलमें रखी गईं। वहाँ उन्हें कष्ट भी खूब दिए गए। उनके खान-पानकी जरा भी चिन्ता नहीं की जाती थी।

उनको धोबीका काम दिया गया। बाहरसे खाना मँगानेकी मनाही थी जो आखीरतक कायम रही। कस्तूरबाई (मेरी पत्नी) का व्रत था कि वह एक खास तरहका भोजन ही कर सकती थी। बड़ी मुश्किलसे उसे वही खुराक देना अधिकारियोंने मंजूर किया; पर चीजें ऐसी मिलती थीं कि खाई नहीं जा सकती थीं। जैतूनके तेलकी खास तौरपर जरूरत थी। पहले तो वह दिया ही

नहीं गया और जब मिला तो पुराना और खराब। जब यह प्रार्थना की गई कि हमारे खर्चसे ही खाना मंगवा दिया जाय तो उसपर जवाब दिया गया—"यह होटल नहीं है। जो मिलेगा, वही खाना पड़ेगा।" जब वह जेलसे छूटी तो बदनमें हड्डियाँ भर रह गई थीं और बड़ी मुश्किलसे वह बची।

एक दूसरी बहन भयंकर बुखार लेकर बाहर निकली, जिसने थोड़े ही दिन बाद उसे परमात्माके घर पहुँचा दिया। उसे मैं कैसे भूल सकता हूँ? वालीअम्मा आर० मनूस्वामी मुदलियार १६ वर्षकी बालिका थी। मैं उसके पास गया तब वह बिस्तरसे उठ नहीं सकती थी। कद ऊँचा था, इससे उसका लकड़ीके जैसा शरीर बड़ा डरावना मालूम होता था। मैंने पूछा—"वालीअम्मा, जल जानेपर अफसोस तो नहीं है?"

"अफसोस क्यों हो? अगर मुझे फिर गिरफ्तार करें तो मैं इसी क्षण जेल जानेके लिए तैयार हूँ।"

"पर इसमें अगर मौत आ जाय तो?"

"भले ही आवे न! देशके लिए मरना किसे अच्छा न लगेगा?"

इस बातचीतके कुछ ही दिन बाद वालीअम्मा चल बसी। उसकी देह चली गई; पर वह अपना नाम अमर कर गई। इन बहनोंका बलिदान विशुद्ध था। उनका जेल जाना उनका आर्त्तनाद था, शुद्ध यज्ञ था। ऐसी शुद्ध हार्दिक प्रार्थनाको ही प्रभु सुनते हैं। यज्ञकी शुद्धि हीमें उसकी सफलता है। भगवान् तो भावनाके भूखे हैं। भक्तिपूर्वक अर्थात् निःस्वार्थ भावसे अर्पित किया हुआ पत्र, पुष्प और जल भी परमात्माको प्रिय है। उसे वे सप्रेम अंगीकार करके करोड़ों गुना फल देते हैं। सुदामाके मुट्ठी-भर चावलके बदलेमें उसकी बरसोंकी भूख भाग गई। अनेकके जेल जानेसे चाहे कोई फल न निकले, मगर एक शुद्धात्माका भक्ति-पूर्ण समर्पण किसी समय निष्फल नहीं हो सकता। कौन कहता है कि दक्षिण अफ्रीकामें किस-किसका यज्ञ सफल हुआ; पर इतना

हम जरूर जानते हैं कि वालीअम्माका बलिदान अवश्य ही सफल हुआ।

स्वदेश-यज्ञमें, जगत्-यज्ञमें असंख्य आत्माओंका बलिदान दिया गया है, दिया जा रहा है और दिया जायगा। यही ठीक भी है; क्योंकि कोई नहीं जानता कि पूर्णरूपसे शुद्ध क्या है? पर सत्याग्रही इतना तो जरूर जानते हैं कि उनमेंसे यदि एक भी शुद्ध होगा तो उसका यज्ञ फलोत्पत्तिके लिए काफी है। पृथ्वी सत्यके बलपर टिकी हुई है। 'असत'—'असत्य' के मानी हैं 'नहीं', 'सत्'—'सत्य' अर्थात् 'है'—जहां असत् अर्थात् अस्तित्व ही नहीं, उसकी सफलता कैसे हो सकती है? और जो सत्—अर्थात्—'है' उसका नाश कौन कर सकता है? बस, इसीमें सत्याग्रहका सिद्धान्त समाविष्ट है।

४१

मजदूर भी

बहनोंकी इस गिरफ्तारीका मजदूरोंपर बड़ा अद्भुत प्रभाव पड़ा। न्यू-कैसलके पासकी खानोंमें काम करनेवाले मजदूरोंने अपने औजार फेंक दिये और जत्थे-के-जत्थे नगरमें आने लगे। खबर मिलते ही फिनिक्स छोड़कर मैं न्यू-कैसल पहुँचा।

ऐसे मजदूरोंका अपना घर नहीं होता। मालिक ही उनके लिए घर बनाते हैं, वे ही उनके रास्तों आदिपर दिया-बत्तीके प्रकाशका और पानीका इन्तजाम भी करते हैं। मतलब यह कि मजदूर हर तरहसे पराधीन रहते हैं।

ये हड़ताली मजदूर मेरे पास कई प्रकारकी शिकायतें ले-लेकर आने लगे। कोई कहता कि खानोंके मालिकोंने रास्ते परकी बत्तियोंको हटा लिया है। कोई कहता है कि उन्होंने पानी बन्द कर दिया है। कोई कहते कि वे हड़तालियोंका असबाब कमरोंमेंसे बाहर फेंक रहे हैं। एक पठान भाई सैयद इब्राहीमने

मुझे अपनी पीठ दिखाकर कहा—"यह देखिए, मुझे कैसा मारा है। सिर्फ आपकी खातिर मैंने उस बदमाशको छोड़ दिया है, क्योंकि यही आपका हुक्म है। नहीं तो मैं पठान हूँ और पठान कभी मार नहीं खाता; बल्कि मारता है।"

मैंने उत्तर दिया—"भाई, तुमने बहुत अच्छा काम किया। इसीको मैं सच्ची बहादुरी कहता हूँ। तुम-जैसे लोगोंके बलपर ही हम जीतेंगे।"

मजदूर पाँच-पच्चीस नहीं, सैकड़ों थे। सैकड़ोंसे हजारों होनेमें भी देर नहीं थी। और ऐसा हुआ भी। उनकेलिए मैं मकान कहाँसे लाऊँ? खाने-पीनेका प्रबंध क्या करूँ? इतने बड़े और प्रतिक्षण बढ़नेवाले जनसमुदायको एक ही स्थानपर बिना किसी उद्योगके रखना भयानक जरूर था।

मुझे इसका एक उपाय सूझा। इनको भी फिनिक्सके लोगोंकी तरह ट्रांसवाल ले जाकर जेलमें क्यों न बैठा दूं? कोई ५०० आदमी इकट्ठे हो गए होंगे। उन सबको ट्रेनसे नहीं ले जा सकता था। इतने रुपये मैं कहाँसे लाता? फिर इससे लोगोंकी परीक्षा भी नहीं हो सकती थी। न्यू-कैसलसे ट्रांसवालकी सरहद ३६ मील थी। नेटालका सरहदी गाँव चार्ल्सटाउन था और ट्रांसवालका वोकसरस्ट। पैदल ही सफर करनेका निश्चय किया। मजदूरोंसे भी सलाह की। उनमें स्त्रियाँ, बच्चे वगैरा भी थे। कितने ही टाल-मटोल कर गये। हृदयको कठोर करनेके सिवाय मेरे पास कोई उपाय ही नहीं था। मैंने उनसे कह दिया कि जो वापस खानोंमें कामपर जाना चाहते हों, वे जा सकते हैं; पर लौट जानेको कोई तैयार नहीं था। जो पंगु थे, उन्हें ट्रेनसे भेजनेका निश्चय हुआ, शेष सब चार्ल्सटाउन तक पैदल चलनेको तैयार हो गये। रास्ता दो दिनमें तय करना था। अंतमें सभी प्रसन्न हो गये। न्यू-कैसलके गोरोंको हैजेका भय था, इसलिए वे जो-कुछ इंतजाम करनेवाले थे, उससे वे मुक्त हो गए और हम भी उनके इंतजामके संकटसे मुक्त हो गए।

कूचकी तैयारी कर ही रहे थे कि खानके मालिकोंका निमंत्रण आया। मैं डरबन पहुँचा। वे इस बातको नहीं मानते थे कि तीन पौंडके करका खानोंसे कोई संबंध नहीं है। मैं उन्हें इस बातके लिए राजी न कर सका कि वे सरकारके पास इस करको हटानेके लिए दरख्वास्त करें। तब मैं न्यू-कैसल लौटा। मजदूरोंका प्रवाह चारों तरफसे बढ़ता आ रहा था। मैंने उन्हें सब बातें खोलकर समझा दी थीं। मैंने यह भी कहा था कि अगर आप लौट जाना चाहते हैं तो लौट सकते हैं। मालिकोंकी धौंस-धमकीकी बात भी कही। भावी विपत्तियोंका भी चित्र खींचकर बता दिया और चेता दिया कि लड़ाई कब समाप्त होगी, इसका कोई ठिकाना नहीं। जेलके कष्ट बताये। सबकुछ समझाया; पर वे अपने निश्चयसे नहीं हटे। "आप जबतक लड़नेके लिए तैयार हैं तबतक हम भी अपना कदम पीछे नहीं हटावेंगे। हमें कष्टोंका पूरा खयाल है, हमारी चिंता न कीजिए।" इस तरहका निर्भय उत्तर मुझे मिला।

अब तो सिर्फ कूच करना बाकी रहा। एक दिन साँझको मैंने मजदूरोंको खबर दी कि दूसरे दिन (२८ अक्तूबर १९१३) बड़े सवेरे कूच करना है। राहमें चलते हुए किन नियमोंका पालन करना चाहिए, वे भी समझा दिये। पाँच-छः हजारके झुंडको समझाकर रखना कोई मजाक नहीं था। मैंने उनसे कह दिया कि उन्हें रास्तेमें १॥ पौंड रोटी और आधी छटाँक शक्करके अलावा कोई और खुराक मिलनेकी गुंजाइश नहीं है। हाँ, यदि रास्तेमें भारतीय व्यापारी कुछ देंगे तो ले लूंगा, लेकिन ऐसा नहीं हो सका तो उन्हें रोटी और शक्करपर संतोष करना होगा। बोअर-युद्ध और जुलू-बलवेमें मुझे जो अनुभव प्राप्त हुआ था, उसने इस मौकेपर खूब काम दिया। कोई जरूरतसे ज्यादा कपड़े न ले चले, यह शर्त भी थी। रास्तेमें किसीकी चीजको हाथ न लगाया जाय। रास्तेमें अधिकारी लोग या दूसरे अंग्रेज मिलें, गालियाँ दें, या पीटें तो सब बरदाश्त कर लिया जाय। पुलिस कैद करना चाहे तो

चुपचाप अपने-आपको सौंप दिया जाय। अगर मैं गिरफ्तार हो जाऊं तो भी लोग उसी तरह कूच करते चले जायं। ये सब बातें उन्हें समझा दी गई थीं। यह भी समझा दिया था कि मेरे पीछे क्रमशः कौन-कौन मेरा स्थान ले और कौन काम जारी रक्खे।

लोग समझ गये। हमारा झुंड सही-सलामत चार्ल्सटाउन जा पहुंचा। यहां व्यापारियोंने खूब सहायता की। अपने मकान ठहरनेके लिए खोल दिये। मस्जिदके अहातेमें रसोई बनानेके लिए सुविधा कर दी। कूचके लिए जो खुराक दी गई थी, वह वहीं तकके लिए थी। चार्ल्सटाउनमें हमें कुछ दिन ठहरना पड़ा, इसलिए हमें रसोईके बर्तनोंकी जरूरत पड़ी। व्यापारियोंने ये भी खुशी-खुशी दे दिये। चावल वगैरा हमारे पास पहले ही काफी थे, पर फिर भी व्यापारियोंने अपनी तरफसे और दिये।

चार्ल्सटाउन एक छोटा-सा गांव था। उस समय उसकी आबादी मुश्किल से १००० होगी। उसमें इतने हजार मनुष्योंका समा जाना कठिन था। इसलिए बच्चों और स्त्रियोंको ही मकानोंके अन्दर रखा, बाकी सब खुले मैदानमें ठहरे।

हमारे मनुष्योंसे स्वच्छताके नियमोंका पालन करवाना बड़ा कठिन था, लेकिन मेरे साथियोंने मेरे इस कामको आसान कर दिया। यह मेरा हमेशाका अनुभव है कि अगर नेता मुख्य सेवक बन जाय और हुक्म देनेके पहले खुद सेवा करने लग जाय तो बहुत-सा काम हो जाता है। अगर नेता अपने शरीरको जरा भी कष्ट देगा तो दूसरे लोग भी ऐसा ही करने लग जायँगे। कम-से-कम मुझे इस मौकेपर तो यही अनुभव हुआ। मैं और मेरे साथी कभी झाड़ना-बुहारना, मैला उठाकर फेंकना आदि काम करते जरा भी नहीं हिचकिचाते थे, इसलिए दूसरे लोग उन्हीं कामोंको उत्साहसे करने लग जाते। अगर हम खुद अपना हाथ नहीं चला सकते तो केवल हुक्म चला देनेसे कोई फायदा नहीं होना है। सभी सरदार बनकर दूसरोंपर हुकूमत जताने लगें तो कुछ भी

काम नहीं हो सकता; लेकिन जहाँ खुद सरदार ही सेवक बन जाता है, वहाँ दूसरे लोग सरदारीका दावा नहीं कर सकते ।

भोजनमें दाल और भात दिया जाता था। सब्जी भी खूब मिल जाती थी, पर उसे अलग-अलग पकानेके लिए एक तो बर्तन नहीं थे, दूसरे उतना वक्त भी चाहिए। इसलिए साग-दालके साथ मिला दिया जाता था। चौबीसों घंटे खाना पकता रहता; क्योंकि भूखे आदमी दिन-रात आते रहते थे। न्यू-कैसलमें किसी मजदूरके ठहरनेकी जरूरत नहीं थी। रास्ता सभीको मालूम था; इसलिए हरेक आदमी खानसे निकलते ही सीधा चाल्सटाउन आ पहुँचता।

जब मैं मनुष्यके धीरज और सहनशीलतापर विचार करता हूँ तो मेरे सामने परमात्माकी महिमा खड़ी हो जाती है। खाना पकानेवालोंमें मैं मुखिया था। किसी दिन दालमें पानी ज्यादा हो जाता, कभी वह गल ही नहीं पाती, कभी साग कच्चा रहता तो कभी भात बिगड़ जाता। लेकिन मैंने संसारमें ऐसे कम लोग देखे हैं, जो ऐसा भोजन निगल लें। इसके विपरीत दक्षिण अफ्रीकाके जेलमें मैंने यह देखा कि निश्चित भोजनसे कुछ कम या देरीसे, या कच्चा खाना मिलते ही अच्छे-अच्छे शिक्षित समझे जानेवाले लोगोंका मिजाज बिगड़ जाता था।

खाना पकानेसे परोसनेका काम और भी कठिन था। वह तो बिलकुल मेरे ही सुपुर्द था। कच्चे-पक्के भोजका उत्तरदायी मैं रहता था। कभी-कभी खानेवाले बढ़ जाते और सामग्री कम हो जाती तो ऐसे मौकेपर थोड़ा-थोड़ा कम भोजन बाँटकर मुझे लोगोंको समझाना भी पड़ता था। कम भोजन मिलनेपर बहनें मेरी ओर उलहानेकी दृष्टिसे देखने लगतीं और मेरा हेतु समझते ही हँसती हुई चल देतीं। वह दृश्य मैं अपने जीवनमें कभी नहीं भूल सकता। मैं कह देता—"मैं तो लाचार हूँ। मेरे पास पकाया हुआ खाना तो थोड़ा है और लेनेवाले बढ़ गये। इसलिए अब मुझे इसी तरह देना चाहिए, जिससे थोड़ा-थोड़ा सभीको

पहुंच जाय।" यह सुनते ही वे "संतोषम्" कहकर चली जातीं।

४२

हमारा कूच—१

अब चार्ल्सटाउन छोड़नेका समय आ पहुंचा था। मैंने सरकारको लिख दिया था कि हम ट्रांसवालमें निवास करनेके हेतु प्रवेश करना नहीं चाहते। हमारा प्रवेश तो वह सक्रिय पुकार है, जो हम सरकारके वचन-भंगके उत्तरमें उठाना चाहते हैं। हमारा प्रवेश महज उस दुःखका चिह्न है, जो हमारे आत्म-सम्मानकी हानिसे हमारे हृदयमें हो रहा है। यदि आप हमें यहीं चार्ल्स-टाउनमें गिरफ्तार कर लेंगे तो हम निश्चित हो जायंगे। यदि आप ऐसा न करेंगे और हममेंसे कोई चुपचाप शांतिपूर्वक ट्रांसवालमें प्रवेश कर लेंगे तो इसके लिए हम जवाबदेह नहीं हैं। हमारे संग्राममें छिपाने योग्य कुछ नहीं है। इसमें किसीका व्यक्तिगत स्वार्थ भी नहीं है। यदि कोई लुक-छिपकर प्रवेश करेगा तो वह हमें प्रिय न होगा; पर जहां हजारों आदमियोंसे काम लेना है, जहां प्रेमके सिवा अन्य कोई बन्धन नहीं है, वहां हम किसीके कार्यके लिए जिम्मेदार नहीं हो सकते। साथ ही आप इतना भी जान लें कि यदि आप तीन पौंडवाला कर उठा लेंगे तो तमाम गिरमिटिया पुनः अपने कामपर लौट आवेंगे और हड़ताल समाप्त हो जायगी। भारतीयोंके अन्य कष्टोंको दूर करनेके लिए हम उन्हें अपने सत्याग्रहमें शामिल नहीं करेंगे।

इस पत्रके कारण भी स्थिति बड़ी अनिश्चित हो गई थी। इसका कोई ठिकाना न था सरकार कब हमें गिरफ्तार कर लेगी; पर ऐसे अनबनके मौकेपर सरकारके उत्तरकी प्रतीक्षा दिनोंतक नहीं की जा सकती थी। इसलिए हमने निश्चय कर लिया कि यदि सरकार यहीं हमें गिरफ्तार न करे तो फौरन ट्रांसवालमें प्रवेश कर लिया जाय। यदि रास्तेमें भी वह हमें कहीं

नहीं पकड़े तो प्रतिदिन २० से लेकर २४ मील तकका सफर यह समुदाय ८ दिन तक करता रहे। ८ दिनमें टॉल्स्टॉय-आश्रमपर पहुँचनेकी योजना थी। यह भी विचार कर लिया था कि बादमें युद्धकी समाप्ति तक वहींपर सब रहें और काम करके अपनी आजीविका पैदा करें। मि० केलनबेकने सभी व्यवस्था कर रखी थी। इन्हीं यात्रियोंकी सहायतासे वहाँ मिट्टीके मकान बनवा लेनेका निश्चय कर लिया था। तबतक छोटे-छोटे डेरे लगाकर बूढ़े और कमजोर लोगोंको उनमें रखनेका विचार था। हट्टे-कट्टे स्त्री-पुरुष तो बाहर भी पड़े रह सकते थे। कठिनाई सिर्फ यही थी कि बारिशका मौसम शुरू होनेको था, इसलिए बरसातमें तो सबके लिए आसरा होना जरूरी था, पर मि० केलनबेकको विश्वास था कि तबतक यह मामला ठीक हो जायगा।

कूचकी और तैयारियां भी की गईं। चार्ल्सटाउनके डाक्टर ब्रिस्को बड़े सज्जन थे। वे हमसे बड़ी सहानुभूति रखते थे। उन्होंने ऐसी दवाओंकी छोटी-सी पेटी दी जो रास्तेमें काम आ सकती थी। उन्होंने ऐसे कई डाक्टरी औजार भी दे दिये थे जिनसे मुझ-जैसा आदमी भी काम ले सके। इसे खुद हम ही उठाकर ले भी जाते थे; क्योंकि दलके साथ कोई सवारी वगैरा तो थी नहीं। इसलिए हमने इतनी ही दवाइयां रखीं जो एक साथ सौ आदमियोंके लिए काम दे सकें। इससे हमें कोई कठिनाई नहीं हुई; क्योंकि प्रतिदिन शामको हमें किसी-न-किसी गाँवके नजदीक पड़ाव डालना पड़ता था और किसी दवाईके खतम होते ही फौरन वहाँसे नई ले ली जा सकती थी। दूसरे, हम अपने साथ एक भी मरीज या पंगु आदमीको नहीं रखते थे। उन्हें राहमें ही छोड़ते चले जाते थे।

खानेके लिए डबल रोटी और शक्करके सिवा क्या मिल सकता था? पर उस रोटीको भी तो आठ दिन तक हम कैसे रख सकते थे? वह तो प्रतिदिन लोगोंको बाँटी जाती थी। इसका उपाय यही हो सकता था कि हर मंजिलपर कोई हमें रोटियाँ

भेज दिया करे, पर करे कौन ? हिन्दुस्तानी बावर्ची तो वहाँ थे नहीं। फिर हर गांवमें इस तरह डबल रोटी बनानेवाले भी तो नहीं होते। देहातमें तो शहरोंसे रोटियाँ जाती हैं। यदि बावर्ची रोटी बराबर तैयार कर दिया करें और रेलवाले ठीक समय उसे पहुंचा दिया करें, तभी यह हो सकता था। चार्ल्सटाउनकी अपेक्षा वोकसरस्ट लगभग दूना बड़ा गाँव था। वहाँ डबल रोटी पकानेवालेकी एक बड़ी दूकान थी। उसने बड़ी खुशीसे रोटियाँ पहुँचानेका काम अपने जिम्मे ले लिया। हमारी कठिनाइयों को देखकर बाजार-भावसे अधिक पैसे लेनेकी कोशिश भी उसने नहीं की। रोटियाँ भी अच्छे आटेकी देता और रेलपर वह समयपर रोटियाँ भेज देता और रेलवाले भी, जोकि गोरे ही थे, प्रामाणिकतापूर्वक हमारे पास पहुँचा देते। यही नहीं, बल्कि इसमें वे विशेष सावधानी और सम्भाल भी रखते। उन्होंने हमारे लिए कितनी और सुविधाएं भी कर दीं, क्योंकि वे जानते थे कि हमारी किसीसे दुश्मनी नहीं थी और न किसीको हानि पहुँचानेका हमारा उद्देश्य था। हमें तो खुद कष्ट सहकर अपने अन्यायकी पुकार करनी थी। इसलिए हमारे आसपासका वायु-मंडल भी इसी तरह शुद्ध हो गया और हो रहा था। मनुष्य-जातिका प्रेम-भाव प्रकट हुआ। सबने यही अनुभव किया कि हम सब ईसाई, पारसी, मुसलमान, हिंदू, यहूदी इत्यादि भाई-भाई ही हैं।

इस तरह, कूचकी तैयारी होनेपर, मैंने एक बार फिर समझौतेकी कोशिश की। पत्र, तार वगैरा तो भेज ही चुका था। अब मैंने टेलीफोनपर जनरल स्मट्ससे बातचीत की। आधे मिनटमें जवाब मिला—"जनरल स्मट्स आपसे कोई वास्ता रखना नहीं चाहते। आपके जो जीमें आवे कीजिये।" और टेलीफोन बन्द। यह अकल्पित बात नहीं थी। हाँ, मैंने इतने रूखेपनकी आशा जरूर नहीं रखी थी। दूसरे दिन (६ नवंबर, १९१३ को) निश्चित समय पर ६॥ बजे सुबह हमने प्रार्थना की और ईश्वरका नाम लेकर कूच शुरू कर दिया। कूचमें हमारे साथ

२०३७ पुरुष, ११७ स्त्रियां और ५७ बच्चे थे।

४३

हमारा कूच—२

चार्ल्संटाउनसे एक मीलकी दूरीपर वोकसरस्टका झरना था, इसको पार करते ही ट्रांसवालमें पहुंच जाते हैं। इस झरनेके उस पार घुड़सवार-पुलिस खड़ी थी। सबसे पहले मैं उसके पास गया। लोगोंको समझा दिया गया था कि जब मैं उधरसे इशारा करूं तो वे फौरन झरना पार कर जायं, पर अभी मैं पुलिससे बातचीत कर ही रहा था कि लोग आगे घुस गये और झरनेको पारकर चले आये। घुड़सवार उनके सामने खड़े हो गये, पर वह समुदाय इस तरह रुकनेवाला नहीं था। पुलिस हमें पकड़ना नहीं चाहती थी। मैंने लोगोंको शान्त किया और उन्हें समझाया कि वे एक कतारमें होकर चलें। ५-७ मिनटमें सभी शांत हो गये और अब ट्रांसवालमें कूच करना आरंभ किया।

वोकसरस्टके गोरोंने दो दिन पहले ही सभा की थी, उसमें हमें अनेक प्रकारकी धमकियां दी गई थीं। कितनों होने तो यहां-तक कहा कि यदि भारतीय ट्रांसवालमें प्रवेश करेंगे तो हम उनपर गोलियां चला देंगे। इस सभामें मि० केलनबेक गोरोंको समझाने गये थे, पर उनकी बात कोई सुनना ही नहीं चाहता था।

इस सभाकी खबर हमें मिल चुकी थी और हम इस अवसर-के लिए तैयार भी थे। काफी पुलिस बुलानेका मतलब यह भी हो सकता था कि गोरोंको उपद्रव करनेसे रोका जाय। जो हो, हमारा जुलूस शांतिपूर्वक अपने मुकामपर जा पहुंचा। मुझे तो याद है कि किसी गोरेने जरा भी खुराफात नहीं की। सभी इस नये आश्चर्यको देखनेके लिए बाहर निकल पड़े थे। उनमेंसे कितनों हीकी आंखोंसे मित्रता झलकती थी।

हमारा पहला मुकाम पामफोर्ड था, जो वोकसरस्टसे ८ मील दूर था। शामको कोई पांच बजे हम वहां पहुँच गये। रोटी और शक्कर खाकर सब लोग खुली हवामें लेटे हुए थे। कोई भजन गा रहा था तो कोई बातचीत कर रहा था। कितनी ही स्त्रियां थककर चूर हो गई थीं। अपने बच्चोंको गोदमें लेकर चलनेकी हिम्मत तो उन्होंने की थी, पर अब आगे चलना उनके बसके बाहर था। इसलिए अपनी चेतावनीके अनुसार मैंने उन्हें एक भारतीय सज्जनकी दूकानपर छोड़ दिया और इन्हें कह दिया कि हम टॉल्स्टॉय-आश्रमपर पहुँच जायँ तो वे उन्हें वहां भेज दें और गिरफ्तार हो जायँ तो उन्हें अपने घरपर वापस भेज दें।

जैसे-जैसे रात होती गई, वैसे-वैसे शांति बढ़ती गई। मैं भी सोनेकी तैयारी कर रहा था कि इतनेमें कुछ आवाज सुनाई दी। लालटेन हाथमें लिए हुए पुलिस-अफसरको मैंने देखा। मैं इसका मतलब समझ गया। मुझे कोई तैयारी तो करनी ही नहीं थी। पुलिस-अफसर ने कहा—"मेरे पास आपके नाम वारंट है, मुझे आपको गिरफ्तार करना है।"

मैंने पूछा—"कब?"

उत्तर मिला—"अभी।"

"मुझे कहां ले जाइयेगा?"

"अभी तो इस नजदीकवाले स्टेशनपर। गाड़ी मिलते ही वोकसरस्ट।"

मैंने कहा—"तब तो मैं बिना किसीको जगाये ही आपके साथ हो लेता हूं, पर अपने एक साथीको कुछ समझा-बुझा दूं?"

"शौक से।"

मैंने पास ही सोये हुए पी० के० नायडूको जगाया, उन्हें अपनी गिरफ्तारीकी बात कही और समझा दिया कि वे लोगोंको सुबह होनेसे पहले न जगावें। प्रातः होते ही नियमानुसार सूर्य

उदय होनेसे पहले कूच कर दें। जहाँ विश्रांति लेने और रोटी बाँटने का समय हो, वहीं वे मेरी गिरफ्तारीकी खबर उन्हें सुना दें। इस दर्मियानमें जो-जो पूछें, उन्हें बताते जावें। यदि सरकार दलको गिरफ्तार करना चाहे तो वे गिरफ्तार हो जावें। न पकड़े तो दल नियमित रूपसे कूच करता चला जाय। नायडूको किसी प्रकारका भय तो था नहीं। उन्हें यह भी समझा दिया गया था कि अगर वे खुद गिरफ्तार हो जावें तो उन्हें क्या करना चाहिए। वोकसरस्टमें मि० केलनवेक भी थे ही। मैं पुलिसके साथ-साथ हो लिया। प्रातःकाल हुआ, वोकसरस्टकी ट्रेन में बैठे। वोकसरस्ट-की अदालतमें मुकदमा चला। सरकारी वकीलने तारीख बढ़ानेकी दर्खास्त दी; क्योंकि उसके पास कोई सबूत तैयार नहीं था। तारीख बढ़ा दी गई। मैंने जमानतकी दर्ख्वास्त पेश की। कारण बताया—"मेरे पास २००० पुरुष, १२२ स्त्रियाँ और ५० बच्चोंका दल है। अगली तारीख तक मैं उनको निश्चित स्थानपर पहुँचाकर फिर हाजिर हो सकता हूँ।" सरकारी वकीलने इसका विरोध किया। मजिस्ट्रेट लाचार था, क्योंकि मुझपर जो इलजाम लगाया गया था, वह ऐसा नहीं था जिसमें हाजिर जमानत नहीं हो सकती थी। उसने ५० पौंडका मुचलका लेकर मुझे छोड़ दिया। मि० केलनबेकने मेरेलिए मोटर तैयार रखी थी। मैं फौरन अपने लोगोंमें पहुँच गया। हम पुनः आगे बढ़े, पर मुझे आजाद छोड़कर सरकार कैसे चैन पा सकती थी? इसलिए मैं ८ तारीखको ही दुबारा स्टैंडर्टनमें पकड़ लिया गया। अपेक्षाकृत यह स्थान कुछ बड़ा है। बड़ी अजीब रीतिसे यहाँ मेरी गिरफ्तारी हुई। मैं लोगोंको रोटी बाँट रहा था। यहाँके दूकानदारोंने हमें मुरब्बोंके कुछ डिब्बे भेंटमें दिये थे। उसके बाँटनेमें उस दिन ज्यादा समय लगा था। इसी बीच मजिस्ट्रेट मेरे पास आकर खड़ा हो गया। बाँटनेका काम पूरा होते ही उसने मुझे एक तरफ बुलाया। मैं उसे जानता था, इसलिए शायद वह कोई बात कहना चाहता हो; परन्तु उसने तो

हँसकर मुझसे कहा—

"आप मेरे कैदी हैं।"

मैंने कहा—"तब तो मेरा दरजा बढ़ गया। पुलिसके बदले आपको मेरी गिरफ्तारीके लिए आना पड़ा; पर मुझपर मुकदमा तो अभी चलाइएगा न?"

"मेरे साथ ही चले चलिए। अदालत हो रही है।" वह बोले।

लोगोंसे कूच जारी रखनेको कहकर मैं उनके साथ चल दिया। मैं अदालतके कमरेमें पहुँचा तो अपने दूसरे कुछ साथियोंको भी गिरफ्तार पाया।

फौरन मुझे कोर्टके सामने खड़ा किया गया। मैंने अपने छूटनेके लिए वे ही कारण पेश किये, जो मैंने वोकसरस्टमें पेश किये थे। यहाँ भी सरकारी वकीलने विरोध किया और ५० पौंडकी जमानत पेश करनेपर मुझे २१ ता० तकके लिए छोड़ दिया गया।

व्यापारी लोगोंने मेरेलिए गाड़ी तैयार ही रखी थी। हमारा दल तीन मील भी नहीं चल पाया था कि मैं फिर उसमें जा मिला। इस बार हम लोगोंने सोचा कि शायद अब हम सब टॉल्स्टॉय-आश्रम तक जा पहुँचेंगे, पर यह धारणा गलत निकली। लोग मेरी गिरफ्तारीके आदी हो गये, यह बात कुछ कम थी? मेरे ५ साथी तो जेलमें ही रहे। अब हम जोहान्सबर्गके पास पहुँचते जा रहे थे। पाठकोंको याद होगा कि पूरा रास्ता आठ दिनमें तय करनेका निश्चय किया था। अबतक हम अपने निश्चयानुसार प्रति-दिन रास्ता तय करते आ रहे थे और अब पूरी चार मंजिलें बच रही थीं; लेकिन ज्यों-ज्यों हमारा उत्साह बढ़ता जाता था, त्यों-त्यों सरकार ज्यादा-से-ज्यादा परेशान होती जाती थी कि इस भारतीय हमलेको कैसे रोके? हमें अपनी मंजिल तय करनेपर यदि वह पकड़ती तो उससे उसकी कमजोरी और अकुशलता जाहिर न होती? इसलिए उसने शायद सोचा कि

यदि पकड़ना ही है तो मंजिलपर पहुंचनेके पहले ही क्यों न पकड़ लिया जाय !

इसी समय गोखलेका एक तार मिला कि मि० हेनरी पोलक, जो हमारे साथ फिनिक्समें रहा करते थे, भारतवर्ष जाकर भारतीयों और ब्रिटिश गवर्नमेंटके सामने वहांकी वस्तुस्थिति रखनेमें उनकी मदद करें। इसलिए हमने उनको भारत भेजनेकी तैयारी की। मैंने उन्हें लिखा कि वह जावें; लेकिन वह जानेसे पहले मुझसे मिलकर सारी सूचनाएं ले लेना चाहते थे। इसलिए उन्होंने इस सफरमें ही मुझसे मिल लेनेकी इजाजत मांगी। मैंने तारसे उन्हें उत्तर दिया—"गिरफ्तार हो जानेकी जोखिम उठाना चाहें तो चले आवें।"

जोखिम उठाकर भी मुझसे सलाह लेनेकी इच्छासे मि० पोलक हमें स्टेंडर्टन और ग्रेलिंगस्टेडके बीच टीकवर्थमें ९ तारीखको मिले। दोपहरके ३ बजे होंगे। हमारी बातचीत अभी हो ही रही थी। मि० पोलक और मैं दोनों दलके आगे-आगे चल रहे थे। कुछ और साथी भी हमारी बातें सुन रहे थे। शामको मि० पोलकको डरबन जानेवाली गाड़ी पकड़नी थी, लेकिन 'मोरे मन कुछ और है कर्ताके कछु और।' हमारी बातचीत हो ही रही थी कि एक घोड़ा-गाड़ी सामने आकर ठहर गई। उसमें ट्रांसवालके इमिग्रेशन-आफिसके उच्च अधिकारी मि० चमनी और एक पुलिस-अफसर भी थे। दोनों नीचे उतरे। उन्होंने मुझे दूर ले जाकर कहा—"मैं आपको गिरफ्तार करता हूं।"

इस तरह चार दिनमें मैं तीन बार पकड़ा गया। मैंने पूछा—"इस दल को ?"

"हम उसे देख लेंगे"—उन्होंने उत्तर दिया। मैं आगे कुछ न बोला। मैंने मि० पोलकसे कह दिया कि वह दलके साथ जावें। सिर्फ अपने गिरफ्तार होनेकी खबर दलको देनेका समय ही मुझे दिया गया। लोगोंसे शांति रखनेके लिए मैंने कहना शुरू किया ही था कि अधिकारीने बीच हीमें रोककर कहा—"अब आप कैदी

हैं, भाषण नहीं दे सकेंगे।"

मैं अपनी स्थितिको समझ गया। बोलना बंद करके तुरंत ही अफसरने गाड़ीवानको गाड़ी तेज चलानेकी आज्ञा दी और पल भरमें दल आंखोंसे ओझल हो गया।

पहले मुझे वे ग्रेलिंगस्टेड ले गए और वहांसे बेलफोर होते हुए हीडलबर्ग। यहां मैंने रात विताई।

उधर हमारा दल भी मि० पोलकके नेतृत्व में बढ़ता गया और रातभर ग्रेलिंगस्टेडमें ठहरा। १० तारीखको सवेरे ९ बजे दल भी बेलफोर पहुंचा जहां तीन स्पेशल रेलगाड़ियां उन्हें नेटाल लेजाकर छोड़नेके लिए तैयार खड़ी थीं। लोग कुछ हठ पकड़ गए—"गांधीको बुलाओ, वह कहेंगे तब हम गिरफ्तार होंगे और रेलमें बैठेंगे।" मि० पोलक और काछलिया सेठने समझा-बुझाकर और यह कहकर कि आखिर हमारी यात्राका उद्देश्य भी तो जेल जाना है, यात्रियोंको राजी किया और सब-के-सब शांतिपूर्वक रेलमें बैठ गए।

४४

सत्याग्रहकी विजय

इधर मुझे फिर अदालत में खड़ा किया गया। इस बार मेरी गिरफ्तारी डंडीसे जारी हुए वारंटके मुताबिक हुई थी, इसलिए मुझे वे उसी दिन डंडी ले गए।

उधर मि० पोलकको बेलफोरमें गिरफ्तार तो किया नहीं, बल्कि उनकी सहायताके लिए अधिकारियोंने उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की। पर जब वह रेलमें बैठनेवाले ही थे कि उन्हें चार्ल्स-टाउनमें गिरफ्तार कर लिया गया। मि० केलनबेक भी नहीं बच सके और दोनोंको वोकसरस्ट जेलमें बन्द कर दिया गया।

११ तारीखको डंडीमें मुझपर मुकदमा चला और नौ महीने सख्त कैदकी सजा मुझे सुना दी गई। अभी तो ट्रांसवालमें प्रवेश

करनेके लिए लोगोंको उकसाने और फुसलानेके अपराधमें वोकसरस्टमें मुझपर मुकदमा चलाना बाकी था। चुनांचे मुझे १३ तारीखको वोकसरस्ट ले गए। वहाँ जेलमें मुझे केलनबेक और पोलक भी मिल गए। मुझे खुशी हुई।

१४ तारीखको हम तीनों वोकसरस्टकी अदालतमें पेश हुए। हम तीनोंको ३-३ महीनेकी कैद हुई। वोकसरस्ट जेलमें आये दिन नये-नये कैदी आते थे और हमें बाहर होनेवाली घटनाओंकी खबरें मिल जाया करती थीं, इसलिए कुछ दिन तो खुशी-खुशी कट गए। इन सत्याग्रही कैदियोंमें हरवतसिंह नामक एक बूढ़ा भी था, अवस्था ७५ वर्षसे भी अधिक होगी। वह खानोंमें नौकर नहीं था। उसने बरसों पहले अपना गिरमिट पूरा कर लिया था, इसलिए वह हड़ताली भी नहीं था। मेरे गिरफ्तार होते ही लोगोंमें जोश बढ़ आया और बहुत-से लोग नेटालसे ट्रांसवालमें प्रवेश करके गिरफ्तार होने लगे। हरवतसिंह भी इन्हींमेंसे एक था।

एक दिन मैंने जेलमें हरवतसिंह से पूछा, "आप जेलमें क्यों आये; आप-जैसे बूढ़ोंको तो मैंने जेल जानेके लिए नहीं कहा।"

हरवतसिंहने उत्तर दिया, "जब आप, आपकी धर्मपत्नी और आपके बच्चेतक हमारी खातिर जेल गये तो मैं कैसे रह सकता था?"

"लेकिन आप जेलके कष्टोंको नहीं सह सकेंगे। आप जेल छोड़कर चले जावें तो ठीक होगा। क्या मैं आपको छुड़ानेकी कोशिश करूँ?"

"मैं जेल हरगिज नहीं छोड़ूंगा। मुझे तो—एक दिन—आज-कलमें मरना है ही। ऐसे भाग्य कहाँ जो मैं जेलमें ही मर सकूं?"

इस निश्चयको मैं कैसे डिगा सकता था। उस अशिक्षित साधुके आगे मेरा मस्तक श्रद्धासे झुक गया। हरवतसिंह की साध पूर्ण हुई। वह जेल हीमें ५ जनवरी १९१४ को मर गया। सैकड़ों भारतीयोंके समक्ष हिंदू-प्रथाके अनुसार सम्मानपूर्वक उसके

शवका अग्नि-संस्कार किया गया। उस युद्धमें हरबतसिंह-जैसे एक नहीं अनेक लोग थे; लेकिन जेलमें मरनेका सौभाग्य पानेवाले हरबतसिंह अकेले ही थे और इसलिए दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रह-के इतिहासमें हरबतसिंह का नाम आदरके साथ लिया जायगा।

मगर अब कूच करनेवाले लोगोंकी ओर चलें। स्पेशल गाड़ियां उन्हें वापस नेटाल ले गईं और वहां उन्हें जेलमें डाल दिया गया। सरकारने खानोंके आसपास घेरे बना दिये। उन्हें डंडी और न्यूकैसल जेलोंका हिस्सा करार दिया गया और मजदूरोंको उन्हींमें काम करनेकी मशक्कत दी गई। इस गुलामीके खिलाफ हिन्दुस्तानमें तीव्र रोष फैला।

बीमार होते हुए भी खासतौर से गोखलेने इस बातके लिए बहुत कोशिशकी। इसी समय (दिसम्बर १९१३) वाइसराय लार्ड हार्डिंगने अपना वह प्रसिद्ध भाषण दिया था जिसके कारण दक्षिण अफ्रीका और इंग्लैंडमें भी जहां-तहां खलबली मच गई। कायदा यह था कि वाइसराय साम्राज्यके दूसरे स्थानोंकी टीका-टिप्पणी नहीं करते थे; पर लार्ड हार्डिंगने तो सख्त टीका कर डाली। इतना ही नहीं, उन्होंने तो सत्याग्रहियोंका पूरा-पूरा बचाव भी किया। यहांतक कि सविनय अवज्ञाका भी समर्थन कर डाला। उनके इस साहसका सब तरफ अच्छा असर पड़ा। एक जांच कमीशन बैठा और, यद्यपि कोई भी हिन्दुस्तानी इस कमीशनका मेम्बर नहीं था, तथापि जनरल स्मट्ससे पत्र-व्यवहार कर मुझे विश्वास हो गया कि हमारा उद्देश्य सत्याग्रह-आंदोलनको बन्द करनेसे भी पूरा हो सकेगा। और निश्चय ही, कमीशनकी रिपोर्ट प्रकाशित होते ही गवर्नमेंटने यूनियनके सरकारी गजटमें 'इंडियन रिलीफ बिल' प्रकाशित किया, जिसके फलस्वरूप, देरसे ही सही, लेकिन कुछ समझौता हुआ। उस बिलके मुताबिक—

१. तीन पौंडका टैक्स उठा लिया गया।

२. तमाम ऐसी शादियां, जो हिन्दुस्तानमें विधि-विहित

मानी जाती थीं, अफ्रीकामें भी विधि-विहित मानी जाने लगीं।

३. व्यक्तिके अंगूठेके निशानवाला परवाना उसको यूनियनकी सीमामें प्रवेश करनेके लिए इजाजतनामा करार दिया।

इस प्रकार ८ साल के बाद यह महान् सत्याग्रह-आन्दोलन खत्म हुआ और ऐसा प्रतीत होने लगा कि दक्षिण अफ्रीका के भारतीयोंको अब कुछ राहत मिली। और मैं १८ जुलाई १९१४ को स्वदेश जाते हुए रास्तेमें इंग्लैंडमें गोखलेसे मिलनेके लिए रवाना हुआ। मेरे हृदयमें उल्लास और दुःख दोनोंकी छाया थी। उल्लास इस बातका कि मैं बरसोंके बाद स्वदेश लौट रहा था और गोखलेके पथ-प्रदर्शनमें स्वदेश सेवा करनेका इच्छुक था। और दुःख इस बातका कि जहाँ मैंने जीवनके २१ साल बिताये, असंख्य मीठे और कड़ुवे अनुभव प्राप्त किये, अपने जीवन-कार्यकी नींव डाली, उस दक्षिण अफ्रीकासे मैं विदा हो रहा था।

४५

गोखलेसे मिलने

ऊपर लिख चुका हूँ कि सत्याग्रह-युद्धके समाप्त होनेके बाद गोखलेकी इच्छासे इंग्लैंड होते हुए स्वदेशके लिए रवाना हुआ। साथमें कस्तूरबाई और केलनबेक थे। सत्याग्रह-संग्रामके दिनोंमें मैंने रेलमें तीसरे दर्जेके टिकट खरीदे परन्तु इस तीसरे दर्जे और हमारे तीसरे दर्जेमें बहुत अन्तर है। हमारे यहाँ तो सोने-बैठनेकी जगह भी मुश्किलसे मिलती है और सफाईकी तो बात ही क्या पूछना। किन्तु इसके विपरीत वहाँके जहाजोंमें जगह काफी रहती थी और सफाईका भी अच्छा खयाल रखा जाता था। कम्पनीने हमारे लिए कुछ और भी सुविधाएँ कर दी थीं। कोई हमको तंग न करने पाये, इस खयालसे एक पाखानेमें ताला लगाकर ताली मेरे सुपुर्द कर दी थी; और हम फलाहारी थे, इसलिए हमको ताजे और सूखे फल देनेकी आज्ञा भी जहाजके

खजांचीको दे दी गई थी। मामूली तौरपर तीसरे दर्जेके यात्रियोंको फल कम ही मिलते हैं और मेवा तो कतई नहीं मिलता। इस सुविधाके कारण हम लोग समुद्रपर बहुत शांतिसे १७ दिन बिता सके।

इस यात्राके कितने ही संस्मरण जानने योग्य हैं। मि० केलनबेकको दूरबीनका बड़ा शौक था। एक-दो कीमती दूरबीनें उन्होंने अपने साथ रखी थीं; पर इसके विषय में रोज हमारी आपसमें बहस होती। मैं उन्हें यह जँचानेकी कोशिश करता कि यह हमारे आदर्शके और जिस सादगीको हम पहुँचना चाहते हैं उसके अनुकूल नहीं है। एक रोज तो हम दोनोंमें इस विषयपर गरमागरम बहस हो गई। उस समय हम दोनों अपनी केबिनकी खिड़कीके पास खड़े थे।

मैंने कहा—"आपके और मेरे बीच ऐसे झगड़े होनेसे तो क्या यह बेहतर नहीं है कि इस दूरबीनको समुद्रमें फेंक दें?"

मि० केलनबेकने तुरन्त उत्तर दिया—"जरूर, इस झगड़ेकी जड़को फेंक ही दीजिए।"

मैंने कहा—"देखो, मैं फेंक देता हूँ।"

उन्होंने बे-रोक उत्तर दिया—"मैं सचमुच कहता हूँ, फेंक दीजिए।"

बस मैंने दूरबीन फेंक दी। उसका दाम कोई सात पौंड था, परन्तु उसकी कीमत उसके रुपयेकी अपेक्षा मि० केलनबेकको जो मोह उसके साथ था, उसमें थी। फिर भी मि० केलनबेकने अपने मनमें कभी इस बातका दुःख न होने दिया। उनके और मेरे बीच तो ऐसी कितनी ही बातें हुआ करती थीं—यह तो उसका एक नमूना पाठकोंको दिखाया है।

हम दोनों सत्यको सामने रखकर ही चलनेका प्रयत्न करते थे। इसलिए मेरे-उनके इस संबंधके फलस्वरूप हम रोज कुछ-न-कुछ नई बात सीखते। सत्यका अनुसरण करते हुए हमारे क्रोध, स्वार्थ, द्वेष इत्यादि सहज ही शमन हो जाते थे और यदि न होते तो

सत्यकी प्राप्ति न होती थी। राग-द्वेषादिसे भरा मनुष्य सरल हो सकता है, वाचिक सत्य भले ही पाल ले, पर उसे शुद्ध सत्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती। सत्यका शोध करनेके मानी हैं राग-द्वेषादि द्वन्द्वसे सर्वथा मुक्ति प्राप्त कर लेना।

जिन दिनों हमने यह यात्रा आरंभ की, उससे पहले टॉल्सटॉय आश्रमके व्यक्तियोंकी नैतिक कमजोरीके कारण मैंने सात और चौदह दिनके उपवास किये थे, यह मैं पहलेके अध्यायमें बता चुका हूँ। इसके कारण अभी बदनमें पूरी ताकत नहीं आ पाई थी। जहाजमें डेकपर खूब घूमकर काफी खाने और उसे पचानेका यत्न करता, पर ज्यों-ज्यों मैं अधिक घूमने लगा, त्यों-त्यों पिंडलियोंमें ज्यादा दर्द होने लगा। विलायत पहुँचनेके बाद तो यह दर्द और बढ़ गया। वहाँ डाक्टर जीवराज मेहतासे मुलाकात हो गई थी। उपवास और इस दर्दका इतिहास सुनकर उन्होंने कहा—"यदि आप थोड़े समयतक आराम नहीं करेंगे तो आपके पैरोंके सदाके लिए सुन्न पड़ जानेका अंदेशा है।" तब जाकर मुझे पता चला कि बहुत दिनोंके उपवाससे गई ताकत जल्दी लाने या बहुत खानेका लोभ नहीं रखना चाहिए। उपवास करनेकी अपेक्षा छोड़ते समय अधिक सावधान रहना पड़ता है और शायद इसमें अधिक संयम भी होता है।

मदीरामें हमें समाचार मिले कि लड़ाई अब छिड़ने ही वाली है। इंग्लैंडकी खाड़ीमें पहुँचते-पहुँचते खबर मिली कि लड़ाई शुरू होगई और हम रोक लिये गए। पानीमें जगह-जगह सुरंगें बिछा दी गई थीं, उनसे बचाकर हमें साउदैम्पटन पहुँचते हुए एक-दो दिनकी देर होगई। युद्धकी घोषणा ४ अगस्तको हुई और हम लोग ६ अगस्तको इंग्लैंड पहुँचे।

४६
लड़ाईमें भाग

विलायत पहुंचनेपर खबर मिली कि गोखले तो पेरिसमें रह गए हैं। पेरिसके साथ आवागमन-संबंध बंद होगया है, और यह नहीं कहा जा सकता कि वह कब आयेंगे। गोखले अपने स्वास्थ्य-सुधारके लिए फ्रांस गये थे, किंतु बीच में युद्ध छिड़ जानसे वहीं अटक गये। उनसे मिले बिना मुझे देश जाना नहीं था, और वह कब आवेंगे, यह कोई कह नहीं सकता था।

अब सवाल यह पैदा हुआ है कि इस दरमियान करें क्या? इस लड़ाईके संबंधमें मेरा क्या धर्म है? जेलके मेरे साथी और सत्याग्रही सोराबजी अडाजणिया विलायतमें बैरिस्टरीका अध्ययन कर रहे थे। सोराबजीको एक श्रेष्ठ सत्याग्राहीके तौरपर इंग्लैंडमें बैरिस्टरीकी तालीमके लिए भेजा था कि जिससे दक्षिण अफ्रीकामें आकर वह मेरा स्थान ले लें। उनका खर्च डाक्टर जीवराज मेहता देते थे। उनके और उनकी मार्फत डाक्टर जीवराज मेहता इत्यादिके साथ, जो विलायतमें पढ़ रहे थे, इस विषयपर सलाह-मशविरा किया। विलायतमें उस समय जो हिन्दुस्तानी लोग रहते थे उनकी एक सभा की गई और उनके सामने मैंने अपने विचार उपस्थित किये। मेरा मत यह हुआ कि विलायतम रहनेवाले हिन्दुस्तानियोंको इस लड़ाईमें अपना हिस्सा अदा करना चाहिए। अंग्रेज विद्यार्थी लड़ाईमें सेवा करनेका अपना निश्चय प्रकट कर चुके हैं। हम हिन्दुस्तानियोंको भी इससे कम सहयोग न देना चाहिए। मेरी इस बातके विरोधमें इस सभामें बहुतेरी दलीलें पश की गईं। कहा गया कि हमारी और अंग्रेजोंकी परिस्थितिमें हाथी-घोड़ेका अन्तर है—एक गुलाम, दूसरा सरदार। ऐसी स्थितिमें गुलाम अपने प्रभुकी विपत्तिमें स्वेच्छापूर्वक कैसे मदद कर सकता है? फिर जो गुलाम अपनी गुलामीसे छूटना चाहता है, उसका धर्म क्या

यह नहीं है कि प्रभुकी विपत्तिसे लाभ उठाकर अपना छुटकारा कर लेनेकी कोशिश करे ? पर वह दलील मुझे उस समय कैसे जंच सकती थी ? यद्यपि मैं दोनोंकी स्थिति का महान् अन्तर समझ सका था, फिर भी मुझे अपनी स्थिति बिलकुल गुलाम-की-सी नहीं मालूम होती थी । उस समय मैं यह समझे हुए था कि अंग्रेजी शासन-पद्धतिकी अपेक्षा कितने ही अंग्रेज अधिकारियोंका दोष अधिक था और उस दोषको हम प्रेमसे दूर कर सकते हैं ! मेरा यह खयाल था कि यदि अंग्रेजोंके द्वारा और उनकी सहायतासे हम अपनी स्थितिका सुधार चाहते हों तो हमें उनकी विपत्तिके समय सहायता पहुँचाकर अपनी स्थिति सुधारनी चाहिए । ब्रिटिश-शासन-पद्धतिको मैं दोषमय तो मानता था, परन्तु आजकी तरह वह उस समय असह्य नहीं मालूम होती थी । अतएव आज जिस प्रकार वर्तमान शासन-पद्धतिपरसे मेरा विश्वास उठ गया है और आज मैं अंग्रेजी राज्यकी सहायता नहीं कर सकता, इसी तरह उस समय जिन लोगोंका विश्वास इस पद्धतिपरसे ही नहीं, बल्कि अंग्रेजी अधि-कारियोंपरसे उठ चुका था, वे मदद करनेके लिए कैसे तैयार हो सकते थे ?

उन्होंने इस समयको प्रजाकी माँगें जोरके साथ पेश करने और शासनमें सुधार करनेकी आवाज उठानेके लिए बहुत अनुकूल पाया । मैंने इसे अंग्रेजोंकी आपत्तिका समय समझकर माँग पेश करना उचित न समझा और जबतक लड़ाई चल रही है तबतक हक मांगना मुल्तवी रखनेके संयममें सभ्यता और दूर-दृष्टि समझी । इसलिए मैं अपनी सलाहपर मजबूत बना रहा और कहा कि जिन्हें स्वयंसेवकोंमें नाम लिखाना हो, वे लिखा दें । नाम अच्छी संख्यामें आये । उनमें लगभग सब प्रान्तों और सब धर्मोंके लोग थे ।

फिर लार्ड क्रूके नाम एक पत्र भेजा गया । उसमें हम लोगोंने अपनी यह इच्छा और तैयारी प्रकट की कि हम हिन्दुस्तानियोंके

लिए घायल सिपाहियोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेकी तालीमकी यदि आवश्यकता दिखाई दे तो उसके लिए हम तैयार हैं। कुल सलाह-मशविरा करनेके बाद लार्ड क्रूने हम लोगोंका प्रस्ताव स्वीकार किया और इस बातके लिए हमारा अहसान माना कि हमने ऐसे मौकेपर साम्राज्यकी सहायता करनेकी तैयारी दिखाई।

जिन-जिन लोगोंने अपने नाम लिखाये थे, उन्होंने प्रसिद्ध डाक्टर केण्टलीकी देख-रेखमें घायलोंकी शुश्रूषा करनेकी प्राथमिक तालीम शुरू की। छः सप्ताहका छोटा-सा शिक्षा-क्रम रखा गया था और इतने समयमें घायलोंको प्राथमिक सहायता करनेकी सब विधियाँ सिखा दी जाती थीं। हम कोई ८० स्वयंसेवक इस शिक्षा-क्रममें सम्मिलित हुए। छः सप्ताहके बाद परीक्षा ली गई तो उसमें सिर्फ एक शख्स फेल हुआ। जो लोग पास हो गए, उनके लिए सरकारकी ओरसे कवायद वगैरा सिखानेका प्रबंध हुआ। कवायद सिखानेका भार कर्नल बेंकरको सौंपा गया और वह इस टुकड़ीके मुखिया बनाये गए।

इस समय विलायतका दृश्य देखने लायक था। युद्धसे लोग घबराते नहीं थे, बल्कि सब उसमें यथाशक्ति मदद करनेके लिए जुट पड़े। जिनका शरीर हट्टा-कट्टा था, वे नवयुवक सैनिक-शिक्षा ग्रहण करने लगे, परन्तु अशक्त, बूढ़े और स्त्री आदि भी खाली हाथ न बैठे रहे। उनके लिए भी काम तो था ही। वे युद्धमें घायल सैनिकोंके लिए कपड़ा इत्यादि सीने-काटनेका काम करने लगे। वहाँ स्त्रियोंका 'लाइसियम' नामक एक क्लब है। उसके सभ्योंने सैनिक-विभाग के लिए आवश्यक कपड़े यथाशक्ति बनानेका जिम्मा ले लिया। सरोजिनीदेवी (नायडू) भी इसकी सभ्य थीं। उन्होंने इसमें खूब दिलचस्पी ली थी। उनके साथ मेरा वह प्रथम ही परिचय था। उन्होंने कपड़े ब्योंतकर मेरे सामने उनका एक ढेर रख दिया और कहा कि जितने सिला सको,

उतने सिलाकर मुझे दे देना। मैंने उनकी इच्छाका स्वागत करते हुए घायलोंकी शुश्रूषा की। उस तालीमके दिनोंमें जितने कपड़े तैयार हो सके, उतने करके उनको दे दिये।

इस तरह अपना धर्म समझकर मैं युद्धमें पड़ा तो सही, पर मेरे नसीबमें यह नहीं बदा था कि उसमें मैं सीधा भाग लूं, बल्कि ऐसे नाजुक मौकेपर सत्याग्रह तक करनेकी नौबत आ गई।

४७

गोखलेकी उदारता

विलायतमें मुझे पसलीके दर्दकी शिकायत हो गई थी। इस बीमारीके वक्त गोखले विलायतमें आ पहुंचे थे। उनके पास केलनबेक और मैं हमेशा जाया करते। उनसे ज्यादातर युद्धकी ही बातें हुआ करतीं। जर्मनीका भूगोल केलनबेककी जबानपर था, और यूरोपकी यात्रा भी उन्होंने बहुत की थी, इसलिए वह नकशा फैलाकर गोखलेको लड़ाईकी छावनियाँ दिखाते।

जब मैं बीमार हुआ था तब मेरी बीमारी भी हमारी चर्चाका एक विषय हो गई थी। भोजनके प्रयोग तो उस समय भी मेरे चल ही रहे थे। उस समय मैं मूंगफली, कच्चे और पक्के केले, नींबू, जैतूनका तेल, टमाटर, अंगूर इत्यादि चीजें खाता था। दूध, अनाज, दाल वगैरा चीजें बिलकुल न लेता था। मेरी देख-भाल जीवराज मेहता करते थे। उन्होंने मुझे दूध और अनाज लेनेपर बड़ा जोर दिया। इसकी शिकायत ठेठ गोखले तक पहुँची। फलाहार-संबंधी मेरी दलीलोंके वह कायल न थे। तंदुरुस्तीकी हिफाजतके लिए डाक्टर जो-जो बतावें उसका सेवन करना चाहिए, यही उनका मत था।

गोखलेके आग्रहको न मानना मेरे लिए बहुत कठिन बात थी, जब उन्होंने बहुत ही जोर दिया तब मैंने उनसे २४ घंटे तक विचार करनेकी इजाजत माँगी। केलनबेक और मैं घर आये।

रास्तेमें मैंने उनके साथ चर्चा की कि इस समय मेरा क्या धर्म है? मेरे प्रयोगमें वह भी मेरे साथ थे। उन्हें यह प्रयोग पसंद भी था, परन्तु उनका रुख इस बातकी तरफ था कि यदि स्वास्थ्यके लिए मैं इस प्रयोगको छोड़ दूं तो ठीक होगा, इसलिए अब अपनी अंतरात्माकी आवाजका फैसला लेना ही बाकी रह गया।

सारी रात मैं विचारोंमें डूबा रहा। अब यदि मैं अपना सारा प्रयोग छोड़ दूं तो मेरे सारे विचार और मन्तव्य धूलमें मिल जाते थे। फिर उन विचारोंमें मुझे भूल भी नहीं मालूम होती थी, इसलिए प्रश्न यह था कि किस अंशतक गोखलेके प्रेमके अधीन होना मेरा धर्म है, अथवा शरीर-रक्षाके लिए ऐसे प्रयोग किस तरह छोड़ देने चाहिए। अंतको मैंने यह निश्चय किया कि धार्मिक दृष्टिसे प्रयोगका जितना अंश आवश्यक है, उतना रखा जाय और शेष बातोंमें डाक्टरोंकी आज्ञाका पालन किया जाय। मेरे दूध त्यागनेमें धर्म-भावनाकी प्रधानता थी। कलकत्तामें गाय-भैंसोंका दूध जिन घातक विधियों द्वारा निकाला जाता है, उसका दृश्य मेरी आंखोंके सामने था। फिर यह विचार भी मेरे सामने था कि मांसकी तरह पशुका दूध भी मनुष्यकी खुराक नहीं हो सकता। इसलिए दूध-त्यागपर दृढ़ निश्चय करके मैं सुबह उठा। इस निश्चयसे मेरा दिल बहुत हलका हो गया था; किन्तु फिर भी गोखलेका भय तो था ही; लेकिन साथ ही मुझे यह भी विश्वास था कि वह मेरे निश्चयको तोड़नेका उद्योग न करेंगे।

शामको 'नेशनल लिबरल क्लब' में हम उनसे मिलने गये। उन्होंने तुरन्त पूछा—"क्यों, डाक्टरकी सलाहके अनुसार ही चलनेका निश्चय किया न?"

मैंने धीरे-से जवाब दिया—"और सब बातें तो मैं मान लूंगा; परन्तु आप एक बातपर जोर न दीजिएगा। दूध और दूधकी बनी चीजें और मांस, इतनी चीजें मैं न लूंगा, और इनके न लेनेसे यदि मौत भी आती हो तो मैं समझता हूं, उसका स्वागत कर लना मेरा धर्म है।"

"तुमने यह अंतिम निर्णय कर लिया है?" गोखलेने पूछा।

"मैं समझता हूं कि इसके सिवा मैं आपको दूसरा उत्तर नहीं दे सकता। मैं जानता हूँ कि इससे आपको दुःख होगा; परन्तु मुझे क्षमा कीजिएगा।" मैंने जवाब दिया।

गोखलेने कुछ दुःखसे, परन्तु बड़े ही प्रेमसे कहा—"तुम्हारा यह निश्चय मुझे पसन्द नहीं। मुझे इसमें धर्मकी कोई बात नहीं दिखाई देती, पर अब मैं इस बातपर जोर नहीं दूंगा।" यह कहते हुए जीवराज मेहताकी ओर देखकर उन्होंने कहा—"अब गांधीको ज्यादा दिक न करो। उन्होंने जो मर्यादा बांध ली है, उसके अन्दर ये जो-जो चीजें ले सकते हैं, वही देनी चाहिए।"

डाक्टर ने अपनी अप्रसन्नता प्रकट की, पर वह लाचार थे। मुझे मूंगकी दालका पानी लेनेकी सलाह दी, और कहा–"उसमें हींगका बघार दे लेना।" मैंने इसे मंजूर कर लिया। एक-दो दिन मैंने वह पानी पिया भी; परन्तु इससे उल्टा मेरा दर्द बढ़ गया। मुझे वह मुआफिक नहीं हुआ, इससे मैं फिर फलाहारपर आ गया। ऊपरके इलाज डाक्टरने जो मुनासिब समझे, किये ही। इससे अलबत्ता आराम था, परन्तु मेरी इन मर्यादाओंपर वह बहुत बिगड़ते। इसी बीच गोखले भारतवर्ष को रवाना हुए, क्योंकि वह लंदनका अक्तूबर-नवम्बरका कोहरा सहन नहीं कर सके।

पसलीका दर्द भोजन-परिवर्तन करनेसे और कुछ बाह्य उपचारोंसे ही मिटा; परन्तु बीमारी बिलकुल निर्मूल न हुई। सम्भाल रखनेकी जरूरत तो अभी थी ही। अभी बिछौनेपर ही पड़ा रहना पड़ता था। डाक्टर मेहता बीच-बीचमें आकर देख जाया करते थे, और जब जाते तभी कहा करते—"अगर मेरा इलाज कराओ तो देखते-देखते आराम हो जाय।"

यह सब हो रहा था कि एक रोज मि० राबर्ट्स मेरे घर आये और मुझसे जोर देकर कहा कि आप अपने देश चले जाइए। उन्होंने कहा, "ऐसी हालतमें आप नेटली[1] हर्गिज नहीं जा

१. यह अस्पतालका नाम है, जहां घायलोंकी शुश्रूषा करनेके लिए

सकते । कड़ाकेका जाड़ा तो अभी आगे आनेवाला है। मैं तो आग्रहके साथ कहता हूँ कि अपने देश चले जायँगे तो वहाँ जाकर चंगे हो जायँगे। तबतक यदि युद्ध जारी रहा तो उसमें मदद करनेके और भी बहुत अवसर मिल जायँगे और नहीं तो जो कुछ आपने किया है, उसे भी मैं कम नहीं समझता।"

मुझे उनकी यह सलाह अच्छी मालूम हुई और मैंने देश जानेकी तैयारी की।

४८

विदा

मि० केलनबेक देश जानेके निश्चयसे हमारे साथ रवाना हुए थे। विलायतमें हम साथ ही रहते थे। युद्ध शुरू हो जानेके कारण जर्मन लोगोंपर बड़ी सख्त देख-रेख थी। इससे हम सबको इस बातकी आशंका ही थी कि केलनबेक हमारे साथ आ सकेंगे या नहीं। उनके लिए पासपोर्ट प्राप्त करनेका बहुत प्रयत्न किया गया। मि० राबर्ट्स खुद उन्हें पास दिला देनेके लिए रजामंद थे। उन्होंने सारा हाल तार द्वारा वाइसराय को लिखाए; पर लार्ड हार्डिंगका तुरन्त सीधा और सूखा जवाब आया—"हमें अफसोस है, हम इस समय किसी तरह जोखिम उठानेके लिए तैयार नहीं हैं।" हम सबने इस जवाबके औचित्यको समझा। केलनबेकके वियोगका दुःख तो मुझे हुआ ही, परन्तु मैंने देखा कि मेरी अपेक्षा उनको ज्यादा हुआ। यदि वह भारतवर्षमें आ सके होते तो आज एक बढ़िया किसान और बुनकरका सादा जीवन व्यतीत करते होते।

हमने तीसरे दर्जेका टिकट लेनेकी कोशिश की, परन्तु पी० एंड ओ० के जहाजमें तीसरे दरजेका टिकट नहीं मिलता था,

* गांधीजीको अपनी टुकड़ीके साथ जाना था।

इसलिए दूसरे दरजेका लेना पड़ा। दक्षिण अफ्रीकासे हम कितना ही ऐसा फलाहार साथ बाँध लाये थे, जो जहाजोंमें नहीं मिलता था। वह हमने साथ रख लिया। दूसरी चीजें तो जहाजमें मिलती ही थीं।

डाक्टर मेहताने मेरे शरीरको मीट्स प्लास्टरके पट्टेसे बाँध दिया था और मुझे कहा था कि पट्टा बँधा रहने देना। दो दिनके बाद वह मुझसे सहन न हो सका और बड़ी मुश्किल के बाद मैंने उसे उतार डाला और नहाने-धोने भी लगा। फल और मेवेके सिवा और कुछ नहीं खाता था, इससे तबियत दिन-दिन सुधरने लगी और स्वेजकी खाड़ीमें पहुँचनेतक तो अच्छी हो गई। यद्यपि इससे शरीर कमजोर हो गया था, फिर भी बीमारी-का भय मिट गया था और मैं रोज धीरे-धीरे कसरत बढ़ाता गया। स्वास्थ्य में यह शुभ परिवर्तन तो मेरा यह खयाल है कि समशीतोष्ण हवाकी बदौलत ही हुआ।

पुराने अनुभवसे अथवा और किसी कारणसे अंग्रेज यात्रियों के और हमारे अन्दर यहाँ जो अन्तर मैंने देखा, वह दक्षिण अफ्रीकासे आते हुए भी नहीं देखा था। वहाँ भी अन्तर तो था; परन्तु यहाँ और ही प्रकार का भेद दिखाई दिया। किसी-किसी अंग्रेजके साथ बातचीत होती; परन्तु वह भी 'साहब-सलामत'-से आगे नहीं। हार्दिक भेंट नहीं होती थी; किन्तु दक्षिण अफ्रीकाके जहाजमें और दक्षिण अफ्रीकामें हार्दिक भेंट हो सकती थी। इस भेदका कारण तो मैं यही समझा कि इधरके जहाजोंमें अंग्रेजोंके मनमें यह भाव कि 'हम शासक हैं' और हिन्दुस्तानियोंके मनमें यह भाव कि 'हम गुलाम हैं' जानमें या अनजानमें काम कर रहा था।

ऐसे वातावरणसे जल्दी छूटकर देश पहुँचनेके लिए मैं आतुर हो रहा था। अदन पहुँचनेपर ऐसा भास हुआ मानो थोड़े-बहुत घर आ गए हैं। अदनवालोंके साथ दक्षिण अफ्रीकामें ही हमारा अच्छा संबंध बँध गया था, क्योंकि भाई कैकोबाद

कावसजी दीनशा डरवन आगये थे और उनके तथा उनकी पत्नीके साथ हमारा अच्छा परिचय हो चुका था। थोड़े ही दिन में हम बम्बई आ पहुँचे। जिस देशमें मैं १९०५ में लौटनेकी आशा रखता था, वहीं १० वर्ष बाद पहुँचनेसे मेरे मनको बड़ा आनन्द हो रहा था। बम्बईमें गोखलेने स्वागत वगैराका प्रबंध कर ही डाला था। उनकी तबियत नाजुक थी। फिर भी वह बम्बई आ पहुँचे थे। उनसे मिलकर तथा उनके जीवनमें मिलकर अपने सिरका बोझ उतार डालने-की उमंगसे मैं बम्बई पहुँचा था; परन्तु विधाताने कुछ और ही रचना रखी थी—

'मोरे मन कछु और है कर्ताके कछु और।'

४९

गोखलेके साथ पूनामें

मेरे बम्बई पहुँचते ही गोखलेने मुझे खबर दी कि बम्बईके गवर्नर आपसे मिलना चाहते हैं और पूना आनेसे पहले आप उनसे मिलते आवें तो अच्छा होगा। इसलिए मैं उनसे मिलने गया। मामूली बातचीत होनेके बाद उन्होंने मुझसे कहा—

"आपसे मैं एक वचन लेना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि सरकारके संबंधमें यदि आपको कहीं कुछ आन्दोलन करना हो तो उसके पहले आप मुझसे मिल लें और बातचीत कर लें।"

मैंने उत्तर दिया, "यह वचन देना मेरे लिए बहुत सरल है, क्योंकि सत्याग्रहीकी हैसियतसे मेरा यह नियम ही है कि किसीके खिलाफ कुछ करनेके पहले उसका दृष्टि-बिंदु खुद उसीसे समझ लूं और अपनेसे जहांतक हो सके, उसके अनुकूल होनेका यत्न करूं। हमेशा दक्षिण अफ्रीकामें इस नियमका पालन किया है और यहां भी मैं ऐसा ही करनेका विचार करता हूँ।"

लार्ड विलिंगडनने इसपर मुझे धन्यवाद दिया और कहा—

"आप जब कभी मिलना चाहें, मुझसे तुरन्त मिल सकेंगे और आप देखेंगे कि सरकार जान-बूझकर कोई बुराई नहीं करना चाहती ।"

मैंने जवाब दिया—"इसी विश्वासपर तो मैं जी रहा हूं।"

इसके बाद में पूना पहुंचा। वहांके तमाम संस्मरण लिखना मेरी सामर्थ्यके बाहर है। गोखलेने और भारत-सेवक समितिके सभ्योंने मुझे अपने प्रेमसे नहला दिया। जहांतक मुझे याद है, उन्होंने तमाम सभ्योंको पूना बुलाया था। सबके साथ दिल खोलकर मेरी बातें हुई। गोखलेकी तीव्र इच्छा थी कि मैं भी समितिका सदस्य बनूं। मेरी इच्छा तो थी ही; परन्तु सदस्योंकी यह धारणा हुई कि समिति के आदर्श और उनकी कार्य-प्रणाली मुझसे भिन्न थी। इसलिए वे दुविधामें थे कि मुझे सदस्य होना चाहिए या नहीं। गोखलेकी यह मान्यता थी कि अपने आदर्शपर दृढ़ रहनेकी जितनी प्रवृत्ति मेरी थी उतनी ही दूसरोंके आदर्शकी रक्षा करने और उनके साथ मिल जानेका स्वभाव भी था। उन्होंने कहा—"परन्तु हमारे साथी अभी आपके दूसरोंको निभा लेनेके इस गुणको नहीं पहचान पाये हैं। वे अपने आदर्शपर दृढ़ रहनेवाले स्वतंत्र और निश्चित विचारके लोग हैं। मैं आशा तो यही रखता हूं कि वे आपको सदस्य बनाना मंजूर कर लेंगे, परन्तु यदि न भी करें तो आप इससे यह तो हर्गिज न समझें कि आपके प्रति उनका प्रेम या आदर कम है। अपने इस प्रेमको अखंडित रहने देनेके लिए ही वे किसी तरहकी जोखिम उठानेसे डरते हैं; परन्तु आप समितिके बाकायदा सदस्य हों या न हों, मैं तो आपको सदस्य मानकर ही चलूंगा।"

मैं समितिका सदस्य बनूं या न बनूं, पर एक आश्रमकी स्थापना करके और फिनिक्सके साथियोंको उसमें रखकर मैं कहीं बैठना चाहता था। मैंने अपना यह संकल्प उनपर प्रकट किया था। गुजराती होनेके कारण गुजरातके द्वारा सेवा करनेकी

पंजी मेरे पास अधिक होनी चाहिए, इस विचारसे गुजरातमें ही कहीं स्थिर होनेकी इच्छा भी थी। गोखलेको यह विचार पसंद आया और उन्होंने कहा—

"जरूर आश्रम स्थापित करो। सदस्योंके साथ जो बात-चीत हुई है उसका फल कुछ भी निकलता रहे, परन्तु तुम्हारे आश्रमके लिए धनका प्रबंध मैं कर दूंगा। उसे मैं अपना ही आश्रम समझूंगा।"

यह सुनकर मेरा हृदय फूल उठा। चन्दा मांगनेके झंझट-से बचा, यह समझकर बड़ी खुशी हुई और इस विश्वास-से कि अब मुझे अकेले अपनी जिम्मेदारीपर कुछ न करना पड़ेगा, बल्कि हरएक उलझनके समय मेरे लिए एक पथ-प्रदर्शक यहां है, मेरे सिरका बोझ उतर गया।

गोखलेने स्वर्गीय डाक्टर देवको बुलाकर कह दिया—"गांधीका खाता अपनी समितिमें खोल लो और उनको अपने आश्रमके लिए तथा सार्वजनिक कामोंके लिए जो कुछ रुपया चाहिए वह देत रहना।"

अब मैं पूना छोड़कर शांतिनिकेतन जानेकी तयारी कर रहा था। अंतिम रातको गोखलेने खास मित्रोंकी एक पार्टी इस विधिसे की जो मुझे रुचिकर होती। उसमें वे ही चीजें अर्थात् फल और मेवे मंगाये थे, जो मैं खाया करता था। पार्टी उनके कमरेसे कुछ ही दूरपर थी। उनकी हालत ऐसी न थी कि वह वहांतक भी आ सकते; लेकिन उनका प्रेम उन्हें कैसे रुकने देता? वह जिद करके आये, परन्तु उन्हें गश आ गया और वापिस लौट जाना पड़ा। ऐसा गश उन्हें बार-बार आ जाया करता था, इसलिए उन्होंने कहलवाया कि पार्टीमें किसी प्रकारकी गड़बड़ न होनी चाहिए। पार्टी क्या थी, समितिके आश्रममें अतिथि-घरके पासके मैदानमें जाजम बिछाकर हम लोग बैठ गए थे और मूंगफली, खजूर वगैरा खाते हुए प्रेम-वार्त्ता करते थे एवं एक-दूसरेके हृदयको अधिक जाननेका उद्योग करते थे।

किन्तु उनकी यह मूर्च्छा मेरे जीवनके लिए कोई मामूली अनुभव नहीं था।

५०

धमकी ?

बम्बईसे मुझे अपनी विधवा भौजाई और दूसरे कुटुंबियोंसे मिलनेके लिए राजकोट और पोरबन्दर जाना था। इसलिए मैं राजकोट गया। दक्षिण अफीकामें सत्याग्रह-आन्दोलनके सिलसिलेमें मैंने अपना पहनावा जितना हो सकता था गिरमिटिया मजदूरकी तरह कर डाला था। मेरे-ऐसे कपड़े पहननेवाला आमतौरपर गरीब आदमियोंमें ही गिना जाता है। इस समय वीरमगाम और वढ़वाणमें प्लेगके कारण, तीसरे दरजेके मुसाफिरोंकी जाँच-पड़ताल होती थी। मुझे उस समय हलका-सा बुखार था। जाँच करनेवाले अफसरने मेरा हाथ देखा तो उसे वह गरम मालूम हुआ, इसलिए उसने हुक्म दिया कि राजकोट जाकर डाक्टरसे मिलो और मेरा नाम लिख दिया।

बम्बईसे शायद किसीने तार या चिट्ठी भेज दी होगी, इस कारण वढ़वाण स्टेशनपर दर्जी मोतीलाल, जो वहाँके एक प्रसिद्ध प्रजा-सेवक माने जाते थे, मुझसे मिलने आये। उन्होंने मुझसे वीरमगामकी जकातकी जाँचका तथा उसके संबंधमें होनेवाली तकलीफोंका जिक्र किया। मुझे बुखार चढ़ रहा था, इसलिए बात करनेकी इच्छा कम ही थी। मैंने उन्हें थोड़ेमें ही उत्तर दिया—

"आप जेल जानेके लिए तैयार हैं?"

इस समय मैंने मोतीलालको वैसा ही युवक समझा, जो बिना विचारे उत्साहमें हां कर लेते हैं; परन्तु उन्होंने बड़ी दृढ़ताके साथ उत्तर दिया—

"हां, जरूर जेल चले जायँगे, पर आपको हमारा अगुआ

बनना पड़ेगा । काठियावाड़ी की हैसियतसे आपपर हमारा पहला हक है । अभी तो हम आपको नहीं रोक सकते; परन्तु वापस लौटते समय आपको बढ़वाण जरूर उतरना पड़ेगा । वहांके युवकोंका काम और उत्साह देखकर आप खुश होंगे । आप जब चाहें तब अपनी सेनामें हमें भरती कर सकेंगे ।"

राजकोट पहुँचते ही मैं दूसरे दिन सुवह पूर्वोक्त हुक्मके अनुसार अस्पताल गया । वहां तो मैं किसीके लिए अजनबी नहीं था । डाक्टर मुझे देखकर शर्माये और उस जाँच-कारकुनपर गुस्सा होने लगे । मुझे इसमें गुस्सेकी कोई वजह नहीं मालूम होती थी । उसने तो अपना फर्ज अदा किया था । एक तो वह मुझे पहचानता नहीं था और दूसरे पहचाननेपर भी तो उसका फर्ज यही था कि जो हुक्म मिला उसकी तामील करे; परन्तु मैं था मशहूर आदमी इसलिए राजकोटमें मुझे जाँच करानेके लिए जानेके एवजमें लोग घर आकर मेरी पूछ-ताछ करने लगे ।

काठियावाड़में मैं जहां-जहां गया वहां-वहां वीरमगामकी जकातकी जाँचसे होनेवाली तकलीफोंकी शिकायतें मैंने सुनीं ।

इसलिए लार्ड विलिंगडनने जो निमंत्रण मुझे दे रखा था उसका मैंने तुरंत उपयोग किया । इस संबंधमें जितने कागज-पत्र मिल सकते थे सब मैंने पढ़े । मैंने देखा कि इन शिकायतोंमें बहुत तथ्य था । उसको दूर करनेके लिए बम्बई-सरकारसे लिखा-पढ़ी की । उसके सेक्रेटरीसे मिला, लार्ड विलिंगडनसे भी मिला । उन्होंने सहानुभूति दिखाई, परन्तु कहा कि "दिल्लीकी तरफसे ढील हो रही है । यदि यह बात हमारे हाथमें होती तो हम कभीके इस जकातको उठा देते । आप भारत-सरकारके पास अपनी शिकायत ले जाइए ।"

मैंने भारत-सरकारके साथ लिखा-पढ़ी शुरूकी, परन्तु वहांसे पहुँचके अलावा कुछ भी जवाब न मिला । जब मुझे लार्ड चेम्स-फोर्डसे मिलनेका अवसर आया, तब अर्थात् दो-तीन वर्षकी

लिखा-पढ़ीके बाद सुनवाई हुई। लार्ड चेम्सफोर्डसे मैंने इसका जिक्र किया तो उन्होंने इसपर आश्चर्य प्रकट किया। वीरमगामके मामलेका उन्हें कुछ पता न था। उन्होंने मेरी बातें गौरके साथ सुनीं और उसी समय टेलीफोन करके वीरमगामके कागज-पत्र मंगाये और वचन दिया कि यदि इसके खिलाफ कर्मचारियोंको कुछ कहना न होगा तो जकात रद्द कर दी जायगी। इस मुलाकातके थोड़े ही दिन बाद अखबारमें पढ़ा कि जकात रद्द हो गई।

इस जीतको मैंने सत्याग्रहकी बुनियाद माना, क्योंकि वीरमगामके संबंधमें जब बातें हुईं तब बम्बई-सरकारके सेक्रेटरी-ने मुझसे कहा था कि वक्सरामें इस संबंधमें आपका जो भाषण हुआ था उसकी नकल मेरे पास है और मैंने जो सत्याग्रहका उल्लेख किया था उसपर उन्होंने अपनी नराजगी भी बतलाई। उन्होंने मुझसे पूछा—"आप इसे धमकी नहीं कहते? इस प्रकार बलवान सरकार कहीं धमकी की परवाह कर सकती है?"

मैंने जवाब दिया—"यह धमकी नहीं है। यह तो लोकमत-को शिक्षित करनेका उपाय है। लोगोंको अपने कष्ट दूर करनेके लिए तमाम उचित उपाय बताना मुझ जैसोंका धर्म है। जो प्रजा स्वतंत्रता चाहती है उसके पास अपनी रक्षाका अंतिम इलाज अवश्य होना चाहिए। आमतौरपर ऐसे इलाज हिंसात्मक होते हैं, परन्तु सत्याग्रह शुद्ध अहिंसात्मक शस्त्र है। उसका उपयोग और उसकी मर्यादा बताना मैं अपना धर्म समझता हूँ। अंग्रेज सरकार बलवान है, इस बातपर मुझे संदेह नहीं; परन्तु सत्याग्रह सर्वोपरि शस्त्र है, इस विषयमें भी मुझे कोई संदेह नहीं।"

इसपर उस समझदार सेक्रेटरीने सिर हिलाया और कहा—"देखेंगे।"

५१

शांतिनिकेतनमें

राजकोटसे मैं शांतिनिकेतन गया। वहांके अध्यापकों और विद्यार्थियोंने मुझपर बड़ी प्रेम-वृष्टि की। स्वागतकी विधिमें सादगी, कला और प्रेमका सुन्दर मिश्रण था। वहाँ काका-साहब कालेलकरसे मेरी पहली बार मुलाकात हुई।

शांतिनिकेतनमें मेरे मंडलको अलग स्थानमें ठहराया गया था। वहाँ मगनलाल गांधी उस मंडलीकी देख-भाल कर रहे थे और फिनिक्स-आश्रमके तमाम नियमोंका बारीकीसे पालन कराते थे। मैंने देखा कि उन्होंने शांतिनिकेतनमें अपने प्रेम, लगन और उद्योगशीलताके कारण अपनी सुगंध फैला रखी थी। एंड्रूज तो वहाँ थे ही। पियर्सन भी थे।

अपने स्वभावके अनुसार मैं विद्यार्थियों और शिक्षकों में मिल-जुल गया और शारीरिक श्रम तथा कामके बारेमें चर्चा करने लगा। स्वयं भोजन बनाने तथा बर्तन मांजनेका प्रयोग भी वहाँ भोजनशाला में शुरू किया। बंगाली भोजनमें कुछ सुधार करानेके इरादेसे एक छोटी-सी पाकशाला भी अलग कर ली गई थी।

मेरा इरादा शांतिनिकेतनमें कुछ दिन रहनेका था; पर विधाता मुझे जबर्दस्ती वहांसे घसीट ले गया। मैं मुश्किलसे वहाँ एक सप्ताह रहा होऊँगा कि पूनासे गोखलेके अवसानका तार मिला। सारा शांतिनिकेतन शोकमें डूब गया। सब लोग मातम-पुरसी करने मेरे पास आये। मैं उसी दिन पूना रवाना हुआ। साथमें पत्नी और मगनलालको लिया। बाकी सब शांति-निकेतनमें ही रहे।

एंड्रूज बर्दवान तक मेरे साथ आये थे। उन्होंने मुझसे पूछा—"क्या आपको प्रतीत होता है कि हिन्दुस्तानमें सत्याग्रह

करनेका समय आवेगा ? यदि हां तो कब ?"

मैंने उत्तर दिया—"यह कहना कठिन है। अभी तो एक सालतक में कुछ करना नहीं चाहता। गोखलेने मुझसे वचन लिया है कि मैं एक साल तक भ्रमण करूँ। किसी भी सार्वजनिक प्रश्नपर विचार प्रकट न करूं। मैं अक्षरशः इस वचनका पालन करना चाहता हूं। इसके बाद भी मैं तबतक कोई बात न कहूँगा, जबतक किसी प्रश्नपर कुछ कहनेकी आवश्यकता न होगी। इसलिए मैं नहीं समझता कि अगले ५ वर्षतक सत्याग्रह करनेका कोई अवसर आवेगा।"

यहाँ इतना कहना आवश्यक है कि 'हिन्द स्वराज्य'[1] में मैंने जो विचार प्रदर्शित किये हैं, गोखले उनपर हंसा करते और कहते थे—"एक वर्ष तुम हिंदुस्तानमें रहकर देखोगे तो तुम्हारे ये विचार अपने-आप ठंढे पड़ जायंगे।"

५२
तीसरे दर्जेकी मुसीबत

बर्दवान पहुँचकर हम तीसरे दर्जेका टिकट कटाना चाहते थे, पर टिकट लेनेमें बड़ी मुसीबत हुई। टिकट लेने पहुंचा तो जवाब मिला, "तीसरे दर्जेके मुसाफिरके लिए पहलेसे टिकट नहीं दिया जाता।" तब मैं स्टेशन-मास्टरके पास गया। मुझे भला वहां कौन जाने देता ? किसीने दया करके बताया कि स्टेशन-मास्टर वहां हैं। मैं पहुंचा। उनके पाससे भी यही उत्तर मिला। जब खिड़की खुली तब टिकट लेने गया; परन्तु टिकट मिलना आसान नहीं था। हट्टे-कट्टे मुसाफिर मुझ जैसेको पीछे धकेलकर आगे घुस जाते। आखिर टिकट तो किसी तरह मिल गया।

गाड़ी आई। उसमें भी जो जबरदस्त थे वे घुस गए। उतरने-वालों और चढ़नेवालोंके सिर टकराने लगे और धक्का-मुक्की

[1] सस्ता साहित्य मण्डल से प्रकाशित

होने लगी। इसमें भला मैं कैसे शरीक हो सकता था? इसलिए हम तीनों एक जगहसे दूसरी जगह जाते। सब जगहसे यही जवाब मिलता—"यहाँ जगह नहीं है।" तब मैं गार्डके पास गया। उसने जवाब दिया—"जगह मिले तो बैठ जाओ, नहीं तो दूसरी गाड़ीसे जाना।" मैंने नरमीसे उत्तर दिया—"पर मुझे जरूरी काम है।" गार्डको यह सुननेका वक्त नहीं था। अब मैं सब तरहसे हार गया। मगनलालसे कहा—"जहाँ जगह मिल जाय बैठ जाओ।" और मैं पत्नीको लेकर तीसरे दर्जेके टिकटसे ही ड्योढ़े दर्जेमें घुसा। गार्डने मुझे उसमें जाते हुए देख लिया।

आसनसोल स्टेशनपर गार्ड ड्योढ़े दर्जेका किराया लेने आया। मैंने कहा—"आपका फर्ज था कि आप मुझे जगह बताते। वहाँ जगह न मिलनेसे मैं यहाँ बैठ गया। मुझे तीसरे दर्जेमें जगह दिलाइये तो मैं वहाँ जानेको तैयार हूं।"

गार्ड साहब बोले—"मुझसे दलील न करो। मेरे पास जगह नहीं है। किराया न दोगे तो तुमको गाड़ीसे उतर जाना होगा।"

मुझे तो किसी तरह जल्दी पूना पहुंचना था। गार्डसे लड़नेके लिए मेरे पास समय नहीं था, न सुविधा ही थी। लाचार होकर मैंने किराया चुका दिया। उसने ठेठ पूना तकका ड्योढ़े दर्जेका किराया वसूल किया। मुझे यह अन्याय बहुत अखरा।

सुबह हम मुगलसराय पहुंचे। मगनलालको तीसरे दर्जेमें जगह मिल गई थी। वहाँ मैंने टिकट कलेक्टरको सब हाल सुनाया और इस घटनाका प्रमाण-पत्र मैंने उससे माँगा। उसने इन्कार कर दिया। मैंने रेलवेके बड़े अफसरको अधिक भाड़ा वापस लेनेकी दरख्वास्त दी। उसका उत्तर इस आशय का मिला—"प्रमाण-पत्रके बिना अधिक भाड़ाका रुपया लौटानेका रिवाज हमारे यहाँ नहीं है; परन्तु यह आपका मामला है, इसलिए आपको लौटा देते हैं। बर्दवानसे मुगलसराय तकका अधिक किराया वापिस नहीं दिया जा सकता।"

इसके बाद तीसरे दर्जेके सफरके इतने अनुभव हुए हैं कि

उनकी एक पुस्तक बन सकती है, परन्तु प्रसंगोपात्त उनका जिक्र करनेके उपरांत इन अध्यायोंमें उनका समावेश नहीं हो सकता। शरीर-प्रकृतिकी प्रतिकूलताके कारण मेरी तीसरे दर्जेकी यात्रा बंद हो गई।[1] यह बात मुझे सदा खटकती रहती है और खटकती रहेगी। तीसरे दर्जेके सफरमें कर्मचारियोंकी 'जी-हुक्मी' की जिल्लत तो उठानी ही पड़ती है, परन्तु तीसरे दर्जेके यात्रियोंकी जहालत, गंदगी, स्वार्थ-भाव और अज्ञानका भी कम अनुभव नहीं होता। खेदकी बात यह है कि बहुत बार तो मुसाफिर जानते ही नहीं कि वे उद्दंडता करते हैं या गंदगी बढ़ाते हैं या स्वार्थ साधते हैं। वे जो कुछ करते हैं वह उन्हें स्वाभाविक मालूम होता है और इधर हम, जो सुधारक कहे जाते हैं, इनकी बिल्कुल पर्वाह नहीं करते।

कल्याण जंकशनपर हम किसी तरह थके-मांदे पहुंचे। नहानेकी तैयारी की। मगनलाल और मैं स्टेशनके नलसे पानी लेकर नहाये। पत्नीके लिए मैं कुछ तजवीज कर रहा था कि इतनेमें भारत-सेवक-समितिके भाई कौलने हमको पहचाना। वह भी पूना जा रहे थे। उन्होंने मेरी पत्नीकी ओर इशारा करके कहा—"इनको तो नहानेके लिये दूसरे दर्जेके कमरेमें ले जाना चाहिए।"

उनके इस सौजन्यसे लाभ उठाते हुए मुझे संकोच हुआ। मैं जानता था कि पत्नीको दूसरे दर्जेके कमरेका लाभ उठानेका अधिकार न था; परन्तु मैंने इस अनौचित्यकी ओरसे आँखें मूंद लीं। सत्यके पुजारीको सत्यका इतना उल्लंघन भी शोभा नहीं देता। पत्नीका आग्रह नहीं था कि वह उसमें जाकर नहाये, परन्तु पतिके मोह-रूपी स्वर्ण-पात्रने सत्यको ढांक लिया था।

---

[1] इसके बाद फिर अर्से से गांधीजीने तीसरे दर्जेमें सफर शुरू कर दिया था, जो अन्त समय तक जारी रहा।

५३

मेरा प्रयत्न

पूना पहुंचकर गोखलेकी उत्तर-क्रिया इत्यादिसे निवृत्त हो हम सब लोग इस बातपर विचार करने लगे कि समितिका काम कैसे चलाया जाय और मैं उसका सदस्य बनूं या नहीं। इस समय मुझपर बड़ा बोझ आ पड़ा था। गोखलेके जीते-जी मुझे समितिमें प्रवेश करनेकी आवश्यकता ही नहीं थी। मैं तो सिर्फ गोखलेकी आज्ञा और इच्छाके अधीन रहना चाहता था। यह स्थिति मुझे पसंद भी थी; क्योंकि भारतवर्षके जैसे तूफानी समुद्रमें कूदते हुए मुझे एक दक्ष कर्णधारकी आवश्यकता थी और गोखले-जैसे कर्णधारके आश्रयमें मैं अपनेको सुरक्षित समझता था।

अब मेरा मन कहने लगा कि मुझे समितिमें प्रविष्ट होनेके लिए जरूर प्रयत्न करना चाहिए। मैंने सोचा कि गोखलेकी आत्मा यही चाहती होगी। मैंने बिना संकोचके दृढ़ताके साथ प्रयत्न शुरू किया। इस समय समितिके सब सदस्य वहां मौजूद थे। मैंने उनको समझाने और मेरे संबंधमें जो भय उन्हें था उसको दूर करनेकी भरसक कोशिश की, पर मैंने देखा कि सदस्यों-में इस विषयपर मतभेद था। कुछ सदस्योंकी राय थी कि मुझे समितिमें ले लेना चाहिए और कुछ दृढ़ता-पूर्वक इसका विरोध करते थे, परन्तु दोनोंके मनमें मेरे प्रति प्रेम-भावकी कमी न थी। किंतु हां, मेरे प्रति प्रेमकी अपेक्षा समितिके प्रति उनकी वफादारी शायद अधिक थी—मेरे प्रति प्रेमसे तो कम किसी हालतमें न थी।

इससे हमारी यह सारी बहस मीठी थी और केवल सिद्धांतपर ही थी। जो मित्र मेरा विरोध कर रहे थे उनका यह खयाल हुआ कि कई बातोंमें मेरे और उनके विचारोंमें जमीन-आसमानका अंतर है। इससे भी आगे चलकर उनका यह खयाल

हुआ कि जिन ध्येयोंको सामने रखकर गोखले ने समितिकी रचना की थी, मेरे समितिमें आजानेसे उन्हींके जोखिममें पड़ जानेकी संभावना थी और यह बात उन्हें स्वाभाविक तौरपर ही असह्य मालूम हुई। बहुत कुछ चर्चा हो जानेके बाद हम अपने-अपने घर गये। सदस्योंने अंतिम निर्णय सभाकी दूसरी बैठक तक स्थागित रखा।

घर जाते हुए मैं बड़े विचारके भँवरमें पड़ गया। बहुमतके बलपर मेरा समितिमें दाखिल होना क्या उचित है? क्या गोखलेके प्रति यह मेरी वफादारी होगी? यदि बहुमत मेरे खिलाफ हो जाय तो क्या इससे मैं समितिकी स्थितिको विषम बनानेका निमित्त न बनूंगा? मुझे यह साफ दिखाई पड़ा कि जबतक समितिके सदस्योंमें मुझे सदस्य बनानेके विषयमें मतभेद हो तबतक मुझे खुद ही उसमें दाखिल होनेका आग्रह छोड़ देना चाहिए और इस तरह विरोधी पक्षको नाजुक स्थितिमें पड़नेसे बचा लेना चाहिए। इसीमें मुझे समिति और गोखलेके प्रति अपनी वफादारी दिखाई दी। अंतरात्मामें यह निर्णय होते ही तुरंत मैंने श्री शास्त्रीको पत्र लिखा कि आप मुझे सदस्य बनानेके लिए सभा न बुलावें। विरोधी पक्षको मेरा यह निश्चय बहुत पसंद आया। वे धर्म-संकटसे बच गए। उनकी मेरे साथ स्नेह-गाँठ अधिक मजबूत हो गई, और इस तरह समितिमें दाखिल होनेकी अपनी दरख्वास्त वापस लेकर मैं समितिका सच्चा सभ्य बना।

अब मैं अनुभवसे देखता हूँ कि मेरा बाकायदा समितिका सदस्य न होना ठीक ही हुआ और सब सदस्योंने मेरे सदस्य बननेका जो विरोध किया था, वह वास्तविक था। अनुभवने दिखला दिया है कि उनके और मेरे सिद्धांतमें भेद था, परन्तु मतभेद जान लेनेके बाद भी हम लोगोंकी आत्मामें कभी अंतर न पड़ा, न कभी मन-मुटाव ही हुआ। मतभेद रहते हुए भी हम बंधु और मित्र बने हुए हैं। समितिका स्थान मेरे लिए यात्रा-स्थल हो गया। लौकिक दृष्टिसे भले ही मैं उसका सभ्य न बना हूं,

पर आध्यात्मिक दृष्टिसे तो हूं ही। लौकिक संबंधकी अपेक्षा आध्यात्मिक संबंध अधिक कीमती है। आध्यात्मिक संबंधसे हीन लौकिक संबंध प्राणहीन शरीरके समान है।

५४

आश्रमकी स्थापना

सत्याग्रह-आश्रमकी स्थापना २५ मई सन् १९१५ ई० को हुई। स्वामी श्रद्धानन्दजीकी राय थी कि मैं हरिद्वारमें बसूं। कलकत्ताके कुछ मित्रोंकी सलाह थी कि वैद्यनाथधाममें डेरा डालूं और कुछ मित्र इस बातपर जोर दे रहे थे कि राजकोटमें रहूं।

पर जब मैं अहमदाबादसे गुजरा तो बहुतेरे मित्रोंने कहा कि आप अहमदाबादको चुनिए और आश्रमके खर्चका भार भी उन्होंने अपने जिम्मे लिया। मकान खोजनेका भी आश्वासन दिया। इसलिए अहमदाबादपर मेरी नजर ठहर गई। मैं जानता था कि गुजराती होनेके कारण मैं गुजराती भाषाके द्वारा देशकी अधिक-से-अधिक सेवा कर सकूंगा। अहमदाबाद पहले हाथ-बुनाईका बड़ा भारी केंद्र था, इससे चरखेका काम यहां अच्छी तरहसे हो सकेगा और गुजरातका प्रधान नगर होनेके कारण यहांके धनाढ्य लोग धनके द्वारा अधिक सहायता दे सकेंगे, यह भी खयाल था।

अहमदाबादके मित्रोंके साथ जब आश्रमके विषयमें बातचीत हुई तो अस्पृश्योंके प्रश्नकी भी चर्चा उनसे हुई थी। मैंने साफ तौर-पर कहा था—"यदि कोई योग्य अंत्यज भाई आश्रममें प्रविष्ट होना चाहेंगे तो मैं उन्हें अवश्य आश्रममें रखूंगा।"

"आपकी शर्तोंका पालन कर सकनेवाले अंत्यज ऐसे कहां रास्तोंमें पड़े हुए हैं?" एक वैष्णव मित्रने ऐसा कहकर अपने मनको संतोष दे लिया और अन्तमें अहमदाबाद बसनेका

निश्चय हुआ।

अब हम मकानकी तलाश करने लगे। श्री जीवनलाल वैरिस्टरका मकान, जो कोचरबमें था, किरायेपर लेना तय पाया। वही मुझे अहमदाबादमें बसानेवालोंमें अग्रणी थे।

इसके बाद आश्रमका नाम रखनेका प्रश्न खड़ा हुआ। मित्रोंसे मैंने मशविरा किया। सेवाश्रम, तपोवन इत्यादि नाम सुझाये गए। सेवाश्रम नाम हम लोगोंको पसंद आता था; परन्तु उससे सेवाकी पद्धतिका परिचय न होता था। तपोवन नाम तो भला कैसे स्वीकृत हो सकता था, क्योंकि, यद्यपि तपश्चर्या हम लोगोंको प्रिय थी, फिर भी वह नाम हम लोगोंको अपने लिए भारी मालूम हुआ। हम लोगोंका उद्देश्य तो था सत्यकी पूजा, सत्यका शोध कराना, उसीका आग्रह रखना। और दक्षिण अफ्रीकामें जिस पद्धतिका उपयोग हम लोगोंने किया था उसीका परिचय भारतवासियोंको कराना; हमें यह भी देखना था कि उसकी शक्ति और प्रभाव कहाँतक व्यापक हो सकते हैं। इसलिए मैंने और साथियोंने 'सत्याग्रह-आश्रम' नाम पसंद किया। उसमें सेवा और सेवा-पद्धति दोनोंका भाव अपने-आप आ जाता था।

आश्रमके संचालनके लिए नियमावलीकी आवश्यकता थी। इसलिए नियमावली बनाकर उसपर जगह-जगहसे रायें मँगवाई गइ। बहुतेरी सम्मतियोंमें सर गुरुदास बनर्जीकी राय मुझे याद रह गई है। उन्हें नियमावली पसंद आई; परन्तु उन्होंने सुझाया कि इन व्रतोंमें नम्रताके व्रतको भी स्थान मिलना चाहिए। उनके पत्रकी ध्वनि यह थी कि हमारे युवक-वर्गमें नम्रताकी कमी है। मैं भी जगह-जगह नम्रता के अभावको अनुभव कर रहा था, मगर व्रतमें स्थान देनेसे नम्रताके न रह जानेका आभास होता था, नम्रताका अर्थ तो है शून्यता। शून्यता प्राप्त करनेके लिए दूसरे व्रत हैं ही। शून्यता मोक्ष की स्थिति है। मुमुक्षु या सेवकके प्रत्येक कार्यमें यदि नम्रता—निरभिमानता न हो तो वह मुमुक्षु नहीं, सेवक नहीं, वह स्वार्थी है, अहंकारी है।

आश्रममें इस समय लगभग तेरह तमिल लोग थे। मेरे साथ दक्षिण अफ्रीकासे पांच तमिल बालक आये थे तथा यहांके लगभग २५ पुरुष मिलकर आश्रमका आरंभ हुआ था। सब एक ही भोजनालयमें भोजन करते थे और इस तरह रहनेका प्रयत्न करते थे, मानो सब एक ही कुटुम्बके हों।

५५

कसौटीपर

आश्रमकी स्थापनाको अभी कुछ ही महीने हुए थे कि इतनेमें हमारी एक ऐसी कसौटी हो गई, जिसकी हमने आशा नहीं की थी। एक दिन मुझे भाई अमृतलाल ठक्करका पत्र मिला—"एक गरीब और ईमानदार अंत्यज कुटुम्बकी इच्छा आपके आश्रममें आकर रहनेकी है। क्या आप उसे अपने यहां रख सकेंगे ?"

चिट्ठी पढ़कर मैं चौंका तो, क्योंकि मैंने यह आशा न की थी कि ठक्कर बापा-जैसोंकी सिफारिश लेकर कोई अंत्यज कुटुम्ब इतनी जल्दी आजायगा। मैंने साथियोंको वह चिट्ठी दिखाई। उन लोगोंने उसका स्वागत किया। हमने अमृतलाल भाईको चिट्ठी लिखी कि यदि यह कुटुम्ब आश्रमके नियमोंका पालन करनेके लिए तैयार हो तो हम उसे लेनेके लिए तैयार हैं।

बस, दूधाभाई, उनकी पत्नी दानीबहन और दुधमुंही लक्ष्मी आश्रममें आगई। दूधाभाई बंबईमें शिक्षक थे। वे आश्रमके नियमोंका पालन करनेके लिए तैयार थे। इसलिए वह आश्रममें ले लिये गए।

पर इससे सहायक मित्र-मंडलमें बड़ी खलबली मची। जिस कुएँमें बंगलेके मालिकका भाग था उसमेंसे पानी भरनेमें दिक्कत होने लगी। चरस हांकनेवालेको भी यदि हमारे पानीके छींटे लग जाते तो उसे छूत लगती। उसने हमें गालियां देनी शुरू कीं।

दूधाभाईको भी वह सताने लगा। मैंने सबसे कह रखा था कि गालियाँ सह लेनी चाहिए और दृढ़ता-पूर्वक पानी भरते रहना चाहिए। हमको चुपचाप गालियाँ सुनता देखकर चरसवाला शर्मिन्दा हुआ और उसने हमारा पिंड छोड़ दिया; परन्तु इससे आर्थिक सहायता मिलनी बंद हो गई। जिन भाइयोंने पहलेसे ही अछूतोंके प्रवेश पर भी, जो आश्रमके नियमोंका पालन करते हों, शंका खड़ी की थी, उन्हें तो यह आशा ही नहीं थी कि आश्रममें कोई अंत्यज आजायगा। इधर आर्थिक सहायता बंद हुई, उधर हम लोगोंके बहिष्कारकी अफवाह मेरे कानमें आने लगी। मैंने अपने साथियोंके साथ यह विचार कर रखा था कि यदि हमारा बहिष्कार हो जाय और हमें कहींसे सहायता न मिले तो भी हमें अहमदाबाद न छोड़ना चाहिए। हम अछूतोंके मुहल्लोंमें जाकर बस जायँगे और जो कुछ मिल जायगा उसपर अथवा मजदूरी करके गुजर कर लेंगे।"

अंतमें एक दिन मगनलालने मुझे एक नोटिस दिया कि अगले महीने आश्रम-खर्चके लिए हमारे पास रुपये न रहेंगे। मैंने धीरजके साथ जवाब दिया—"तो हम लोग अछूतोंके मुहल्लेमें रहने लगेंगे।"

मुझपर यह संकट पहली ही बार नहीं आया था, परन्तु हर बार आखिरमें जाकर भगवान्‌ने कहीं-न-कहींसे मदद भेज ही दी है।

मगनलालके इस नोटिसके थोड़े ही दिन बाद एक दिन सुबह किसी बालकने आकर खबर दी कि बाहर एक मोटर खड़ी है और एक सेठ आपको बुला रहे हैं। मैं मोटरके पास गया। सेठने मुझसे कहा—"मैं आश्रमको कुछ मदद देना चाहता हूँ। आप लेंगे?" मैंने उत्तर दिया—"हाँ, आप दें तो मैं जरूर ले लूंगा, और इस समय तो मुझे जरूरत भी है।"

"मैं कल इसी समय यहाँ आऊँगा तो आप आश्रममें ही मिलेंगे न?" मैंने कहा—"हाँ!" और सेठ अपने घर चले गए।

दूसरे दिन नियत समयपर मोटरका भोंपू बजा। बालकोंने मुझे खबर दी। वह सेठ अंदर नहीं आये। मैं ही उनसे मिलनेके लिए गया। मेरे हाथमें तेरह हजार रुपयेके नोट रखकर वह विदा होगए। इस मदद की मैंने बिलकुल आशा न की थी। मदद देनेका यह तरीका भी नया देखा। उन्होंने आश्रममें इससे पहले कभी पैर न रखा था। मुझे ऐसी याद पड़ती है कि मैं उनसे एक बार पहले भी मिला था। न तो वह आश्रमके अंदर आये, न कुछ पूछा-ताछा। बाहरसे ही देकर चलते बने। इस तरहका यह पहला अनुभव मुझे था। इस मदद से अछूतोंके मुहल्लेमें जानेका विचार स्थगित रहा, क्योंकि लगभग एक वर्षके खर्चका रुपया मुझे मिल गया था।

परन्तु बाहरकी तरह आश्रमके अंदर भी खलबली मची। यद्यपि दक्षिण अफ्रीकामें अछूत वगैरा मेरे यहाँ आते रहते और खाते थे, परन्तु यहाँ अछूत कुटुम्बका आना और आकर रहना मेरी पत्नीको तथा दूसरी स्त्रियोंको पसंद न हुआ। दानीबहनके प्रति उनका तिरस्कार तो नहीं, पर उदासीनता, मेरी सूक्ष्म आँखें और तीक्ष्ण कान, जो ऐसे विषय में खासतौरपर सतर्क रहते हैं, देखते और सुनते थे। आर्थिक सहायताके अभावसे न तो मैं भयभीत हुआ, न चिंताग्रस्त ही, परन्तु यह भीतरी क्षोभ कठिन था। दानीबहन मामूली स्त्री थी। दूधाभाईकी पढ़ाई भी मामूली थी, पर वह ज्यादा समझदार थे। उनका जीवन मुझे पसंद आया। कभी-कभी उन्हें गुस्सा आजाता, परन्तु आमतौरपर उनकी सहन-शीलताकी अच्छी ही छाप पड़ी है। मैं दूधाभाईको समझाता कि छोटे-छोटे अपमानोंको हमें पी जाना चाहिए। वह समझ जाते और दानीबहनको भी सहन करनेकी प्रेरणा करते।

इस कुटुम्बको आश्रममें रखकर आश्रमने बहुत सबक सीखे हैं और आरंभ-कालमें ही यह बात साफतौरसे स्पष्ट हो जानेसे कि आश्रममें अस्पृश्यता के लिए जगह नहीं है, आश्रमकी मर्यादा बंध गई तथा इस दिशामें उसका काम बहुत सरल हो गया।

इतना होते हुए भी, आश्रमका खर्च बढ़ते जाते हुए भी, ज्यादातर सहायता उन्हीं हिन्दुओं की तरफसे मिलती आरही है, यह बात स्पष्ट रूपसे शायद इसी बातको सूचित करती है कि अस्पृश्यताकी जड़ अच्छी तरह हिल गई है।

५६

गिरमिट-प्रथा

अब इस नये बसे हुए आश्रमको छोड़कर, जोकि अब भीतरी और बाहरी तूफानोंसे निकल चुका था, गिरमिट-प्रथा या कुली-प्रथापर थोड़ा-सा विचार कर लेनेका समय आगया है। गिरमिटिया उस कुली या मजदूरको कहते हैं जो पाँच या उससे कम वर्षके लिए मजूरी करनेका लेखी इकरार करके भारत के बाहर चला गया है। नेटालके ऐसे गिरमिटियों परसे तीन पौंडका वार्षिक कर १९१४ ई० में उठा लिया गया था, परन्तु यह प्रथा अभी बंद नहीं हुई थी। सन् १९१६ में भारतभूषण पंडित मालवीयजी ने इस सवालको धारा-सभामें उठाया था और लार्ड हार्डिंगने उनके प्रस्तावको स्वीकार करके यह घोषणा की थी कि यह प्रथा 'समय आते ही' उठा देनेका वचन मुझे सम्राटकी ओरसे मिला है, परन्तु मेरा तो यह स्पष्ट मत हुआ था कि इस प्रथाको तत्काल बंद कर देनेका निर्णय हो जाना चाहिए। हिन्दुस्तान अपनी लापरवाहीसे इस प्रथाको बहुत वर्षों तक दरगुजर करता रहा, पर अब मैंने यह देखा कि लोगोंमें इतनी जागृति आ गई है कि अब यह बंद की जा सकती है। इसलिए मैं कितने ही नेताओंसे इस विषय में मिला, कुछ अखबारोंमें इस संबंधमें लिखा और मैंने देखा कि लोकमत इस प्रथाका उच्छेद कर देनेके पक्षमें था। मेरे मनमें प्रश्न उठा कि क्या इसमें सत्याग्रहका कुछ उपयोग हो सकता है? मुझे उपयोगके विषयमें तो कुछ संदेह नहीं था, परन्तु यह बात मुझे दिखाई नहीं पड़ती थी कि उपयोग किया कैसे जाय?

इस बीच वाइसरायने 'समय आने पर' इन शब्दोंका अर्थ भी स्पष्ट कर दिया। उन्होंने प्रकट किया कि दूसरी व्यवस्था करनेमें जितना समय लगेगा उतने समय में यह प्रथा निर्मूल कर दी जायगी। इसपर फरवरी १९१७ में भारत-भूषण मालवीयजीने गिरमिट-प्रथाको कतई उठा देनेका कानून पेश करनेकी इजाजत बड़ी धारा-सभामें मांगी तो वाइसरायने वह नामंजूर कर दी। तब इस मामलेको लेकर मैंने हिन्दुस्तानमें भ्रमण शुरू किया।

भ्रमणका आरंभ मैंने बंबईसे किया। 'इम्पीरियल सिटीजनशिप एसोसिएशन' के नामपर सभा हुई। उसमें जो प्रस्ताव उपस्थित किये जानेवाले थे उनका मसविदा बनानेके लिए एक समिति बनाई गई। प्रस्तावमें यह प्रार्थनाकी गई थी कि गिरमिट-प्रथा बन्द कर दी जाय। पर यह सवाल था कि कब बंद की जाय? इसके संबंधमें तीन सूचनाएं पेश हुईं—(१) 'जितनी जल्दी हो सके' (२) '३१ जुलाई' और (३) 'तुरन्त'। '३१ जुलाई' वाली सूचना मेरी थी। मुझे तो निश्चित तारीखकी जरूरत थी कि जिससे उस मियादतक यदि कुछ न हो तो इस बातकी सूझ पड़ सके कि आगे क्या किया जाय और क्या किया जा सकता है। सर लल्लूभाईकी राय थी कि 'तुरन्त' शब्द रखा जाय। उन्होंने कहा कि '३१ जुलाई' से तो 'तुरन्त' शब्दमें अधिक जल्दी का भाव आता है। इसपर मैंने यह समझानेकी कोशिश की कि लोग 'तुरन्त' शब्दका तात्पर्य न समझ सकेंगे। लोगोंसे यदि कुछ काम लेना हो तो उनके सामने निश्चयात्मक शब्द रखना चाहिए। 'तुरन्त' का अर्थ सब अपनी मर्जीके अनुसार कर सकते हैं। सरकार एक कर सकती है, लोग दूसरा कर सकते हैं; परन्तु '३१ जुलाई' का अर्थ सब एक ही करेंगे और उस तारीखतक यदि कोई और फैसला न हो तो हम यह विचार कर सकते हैं कि अब हमें क्या कार्रवाई करनी चाहिए। यह दलील डा० रीडको तुरन्त जंच गई। अन्तमें सर लल्लूभाईको भी '३१ जुलाई' रुची और प्रस्तावमें वही तारीख रखी गई। सभामें यह प्रस्ताव रखा

गया और सब जगह '३१ जुलाई' की मर्यादा घोषित हुई।

इस समय मैं अकेला ही सफर करता, इससे सफरमें अनोखे अनुभव प्राप्त होते थे। खुफिया पुलिस तो पीछे लगी ही रहती थी, पर इनके साथ झगड़नेकी मुझे कोई जरूरत नहीं थी। मेरे पास कुछ भी छिपी बात नहीं थी। इसलिए न वे मुझे सताते और न मैं उन्हें सताता था। सौभाग्यसे उस समय मुझपर 'महात्मा' की छाप नहीं लगी थी, हालाँकि लोग जहाँ मुझे पहचान लेते वहाँ इस नामका घोष होने लगता था। एक दफा रेलमें जाते हुए बहुत-से स्टेशनोंपर खुफिया मेरा टिकट देखने आते और नंबर वगैरा लेते। मैं तो, वे जो सवाल पूछते, उनका जवाब तुरंत दे देता। इससे साथी मुसाफिरोंने समझा कि मैं कोई सीधा-सादा साधु या फकीर हूं। जब दो-चार स्टेशनोंपर खुफिया आये तो वे मुसाफिर बिगड़े और उस खुफियाको गाली देकर डाँटने लगे—"इस बेचारे साधुको नाहक क्यों सताते हो?" और मेरी तरफ देखकर कहने लगे—"इन बदमाशोंको टिकट मत दिखाओ।"

मैंने शांतिसे इन यात्रियोंसे कहा—"उनको टिकट दिखानेसे मुझे कोई कष्ट नहीं होता। वे अपना फर्ज अदा करते हैं, इससे मुझे किसी तरहका दुःख नहीं है।"

उन मुसाफिरोंको यह बात जंची नहीं। वे मुझपर अधिक तरस खाने लगे और आपसमें बातें करने लगे कि देखो, निरपराध लोगोंको भी ये लोग कैसे हैरान करते हैं।

लाहोरसे लेकर दिल्ली तक मुझे रेलकी भीड़ और तकलीफका बहुत ही कटु अनुभव हुआ। कराचीसे लाहोर होकर मुझे कलकत्ता जाना था। लाहोरमें गाड़ी बदलनी पड़ती थी। यहाँ गाड़ीपर चढ़नेमें मेरी कहीं दाल नहीं गलती थी। मुसाफिर जबरदस्ती घुस पड़ते थे। दरवाजा बंद होता तो खिड़कीमेंसे अंदर घुस जाते थे। इधर मुझे नियत तिथिको कलकत्ता पहुँचना जरूरी था। यदि यह ट्रेन छूट जाती तो मैं कलकत्ता समयपर

नहीं पहुँच सकता था। मैं जगह मिलनेकी आशा मनमें छोड़ रहा था। कोई मुझे अपने डिब्बेमें नहीं लेता था। आखिर मुझे जगह खोजता हुआ देखकर एक मजदूरने कहा—"मुझे बारह आने दो तो मैं जगह दिला दूं।" मैंने कहा—"जगह दिला दो तो मैं जरूर बारह आने दूंगा।" बेचारा मजदूर मुसाफिरोंके हाथ-पांव जोड़ने लगा, पर कोई मुझे जगह देनेको तैयार नहीं होता था। गाड़ी छूटनेकी तैयारी थी। इतनेमें एक डिब्बेके मुसाफिर बोले—"यहां जगह नहीं है, लेकिन इसके भीतर घुसा सकते हो तो घुसा दो। खड़ा रहना होगा!" मजदूरने मुझसे पूछा—"क्योंजी?" मैंने कहा—"हां, घुसा दो।" तब उसने मुझे उठाकर खिड़कीमेंसे अंदर फेंक दिया। मैं अंदर घुसा और मजदूरने बारह आने कमाये।

मेरी यह रात बड़ी मुश्किलोंसे बीती। दूसरे मुसाफिर तो किसी तरह ज्यों-त्यों करके बैठ गए, परन्तु मैं ऊपरकी बैठककी जंजीर पकड़कर खड़ा ही रहा। बीच-बीचमें यात्री लोग मुझे डांटते जाते—"अरे, खड़ा क्यों है, बैठ क्यों नहीं जाता?" मैंने उन्हें बहुतेरा समझाया कि बैठनेकी जगह नहीं है; परन्तु उन्हें मेरा खड़ा रहना भी बरदाश्त नहीं होता था। हालांकि वे खुद ऊपरकी बैठकमें आरामसे पैर ताने पड़े हुए थे, पर मुझे बार-बार दिक करते थे। ज्यों-ज्यों वे मुझे दिक करते त्यों-त्यों मैं उन्हें शांतिसे जवाब देता। इससे वे कुछ शांत हुए। मेरा नाम-ठाम पूछने लगे। जब मैंने अपना नाम बताया तब वे बड़े ही शर्मिन्दा हुए। मुझसे माफी मांगने लगे और तुरन्त अपने पास जगह कर दी। 'सबरका फल मीठा होता है'—यह कहावत मुझे याद आई। इस समय मैं बहुत थक गया था। मेरा सिर घूम रहा था। जब बैठनेकी जगहकी सचमुच जरूरत थी तब ईश्वरने उसकी सुविधा कर दी।

इस तरह धक्के खाता हुआ आखिर समयपर कलकत्ता पहुँच गया। कासिम बाजारके महाराजने अपने यहां ठहरनेका

मुझे निमन्त्रण दे रखा था। कलकत्ताकी सभाके सभापति भी वहीं थे। कराचीकी तरह कलकत्तामें भी लोगोंका उत्साह उमड़ रहा था, कुछ अंग्रेज लोग भी आये थे।

अंतमें ३१ जुलाईके पहले कुली-प्रथा बंद होनेकी घोषणा सरकार द्वारा प्रकाशित हुई। १८९४ ई० में इस प्रथाका विरोध करनेके लिए पहली दरख्वास्त मैंने बनाई थी और यह आशा रखी थी कि किसी दिन यह, अर्ध-गुलामी, जरूर रद्द हो जायगी। १८९४ में शुरू हुए इस कार्यमें यद्यपि बहुतेरे लोगोंकी सहायता थी, परन्तु यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि इस बारके प्रयत्नके साथ शुद्ध सत्याग्रह भी सम्मिलित था।

५७

नीलका दाग

चंपारन राजा जनककी भूमि है। चंपारनमें जैसे आमके वन हैं, उसी तरह, १९१७ में नीलके खेत थे। चंपारनके किसान अपनी जमीनके $\frac{3}{20}$ हिस्सेमें जमीनके असली मालिकके लिए नीलकी खेती करनेपर कानूनन बाध्य थे। इसे वहाँ 'तीन कठिया' कहते थे। २० कट्ठेका वहाँ एक एकड़ था और उसमेंसे तीन कट्ठे नील बोना पड़ता था। इसलिए उस प्रथाका नाम था 'तीन कठिया'।

मैं यह कह देना चाहता हूँ कि चंपारनमें जानेके पहले मैं उसका नाम-निशान तक नहीं जानता था। यह खयाल भी प्रायः नहींके बराबर था कि वहाँ नीलकी खेती होती है। नीलकी गोटियाँ देखी थीं, परन्तु मुझे यह बिलकुल पता न था कि वे चंपारनमें बनती थीं और उनके लिए हजारों किसानोंको दुःख उठाना पड़ता था।

राजकुमार शुक्ल नामके एक किसान चंपारनमें रहते थे। उनपर नीलकी खेतीके सिलसिलेमें बड़ी बुरी बीती थी। वह दुःख उन्हें खल रहा था और उसीके फलस्वरूप सबके लिए इनमें

नीलके दाग को धो डालनेका उत्साह पैदा हुआ।

जब मैं लखनऊ-कांग्रेसमें गया तब इस किसानने मेरा पल्ला पकड़ा। "वकील बाबू आपको सब हाल बतावेंगे"—यह कहते हुए चंपारन चलनेका निमन्त्रण मुझे देते जाते थे।

वह वकील बाबू और कोई नहीं, मेरे चंपारनके प्रिय साथी, बिहारके सेवा-जीवनके प्राण, ब्रजकिशोर बाबू ही थे। उन्हें राजकुमार शुक्ल मेरे डेरेपर लाये। वह काले अलपकेका अचकन, पतलून वगैरा पहने हुए थे। मेरे दिलपर उनकी कोई अच्छी छाप नहीं पड़ी। मैंने समझा कि इस भोले किसानको लूटनेवाले यह कोई वकील साहब ही होंगे।

मैंने उनसे चंपारनकी थोड़ी-सी कथा सुन ली और अपने रिवाजके मुताबिक जवाब दिया—"जबतक मैं खुद जाकर सब हाल देख न लूं तबतक मैं कोई राय नहीं दे सकता। आप कांग्रेसमें इस विषयपर बोलें, किन्तु मुझे तो अभी छोड़ ही दीजिए।" राजकुमार शुक्ल तो चाहते ही थे कि कांग्रेसकी मदद मिले। चंपारनके विषयमें कांग्रेसमें ब्रजकिशोर बाबू बोले और सहानुभूतिका एक प्रस्ताव पास हुआ।

राजकुमार शुक्लको इससे खुशी हुई, परंतु इतने हीसे उन्हें संतोष न हुआ। वह तो खुद चंपारनके किसानोंके दुःख दिखाना चाहते थे। मैंने कहा—"मैं अपने भ्रमणमें चंपारनको भी ले लूंगा और एक-दो दिन वहांके लिए दे दूंगा।" उन्होंने कहा—"एक दिन काफी होगा, पर अपनी नजरोंसे देखिए तो सही।"

लखनऊसे मैं कानपुर गया था। वहां भी देखा तो राजकुमार शुक्ल मौजूद।

"यहांसे चंपारन बहुत नजदीक है। एक दिन दे दीजिएगा?"

"अभी तो मुझे माफ कीजिए, पर मैं यह वचन देता हूं कि मैं आऊंगा जरूर।" यह कहकर वहां जानेके लिए मैं और भी बंध गया।

आश्रम पहुंचा तो वहां भी राजकुमार शुक्ल मेरे पीछे-पीछे

मौजूद।

"अब तो दिन मुकर्रर कर दीजिए।"

मैंने कहा—"अच्छा, अमुक तारीखको मुझे कलकत्ता जाना है, वहाँ आकर मुझे ले जाना।"

कहाँ जाना, क्या करना, क्या देखना, मुझे इसका कुछ पता न था। कलकत्तामें भूपेन बाबूके यहाँ मेरे पहुँचनेके पहले ही राजकुमार शुक्लका पड़ाव पड़ चुका था। अब तो इस अपढ़-अनपढ़ परंतु दृढ़-निश्चय-किसान ने मुझे जीत लिया।

१९१७ के आरंभमें कलकत्तासे हम दोनों रवाना हुए। हम दोनोंकी एक-सी जोड़ी, दोनों किसान-से दीखते थे। राजकुमार शुक्ल और मैं, हम दोनों एक ही गाड़ीमें बैठे। सुबह पटना उतरे।

पटनेकी यह मेरी पहली यात्रा थी। वहाँ मेरी किसीसे इतनी पहचान नहीं थी कि कहीं ठहर सकूं।

मैंने मनमें सोचा कि राजकुमार शुक्ल हैं तो अनपढ़ किसान, परंतु यहाँ उनका कुछ-न-कुछ जरिया जरूर होगा। ट्रेनमें उनका मुझे अधिक हाल मालूम हुआ। पटनेमें जाकर उनकी कलई खुल गई। राजकुमार शुक्लका भाव तो निर्दोष था; परंतु जिन वकीलोंको उन्होंने मित्र माना था वे मित्र न थे; बल्कि राजकुमार शुक्ल उनके आश्रितकी तरह थे। इस किसान मवक्किल और उन वकीलोंके बीच उतना ही अंतर था, जितना कि बरसातमें गंगाजीका चौड़ा पाट हो जाता है।

वह मुझे राजेन्द्र बाबूके यहाँ ले गये। राजेन्द्रबाबू पुरी या कहीं और गये थे। बंगलेपर एक-दो नौकर थे। खानेके लिए कुछ तो मेरे साथ था, परन्तु मुझे खजूरकी जरूरत थी, सो बेचारे राजकुमार शुक्लने बाजारसे ला दी।

परंतु बिहारमें छुआछूतका बड़ा सख्त रिवाज था। मेरे डोलके पानीके छींटेसे नौकरको छूत लगती थी। नौकर बेचारा क्या जानता कि मैं किस जातिका था? अंदरके पाखानेका

उपयोग करनेके लिए राजकुमारने कहा तो नौकरने बाहरके पाखानेकी तरफ अँगुली बताई। मेरेलिए इसमें अचरजकी या रोषकी कोई बात न थी; क्योंकि ऐसे अनुभवोंसे मैं पक्का हो गया था। नौकर तो बेचारा अपने धर्मका पालन कर रहा था, और राजेन्द्रबाबूके प्रति अपना फर्ज अदा करता था। इन मजेदार अनुभवोंसे राजकुमार शुक्लके प्रति जहाँ एक ओर मेरा मान बढ़ा वहाँ उनके संबंधमें मेरा ज्ञान भी बढ़ा। अब पटनासे लगाम मैंने अपने हाथमें ले ली।

५८
बिहारकी सरलता

मौलाना मजरुलहक और मैं एक साथ लंदनमें पढ़ते थे। उसके बाद हम बंबईमें १९१५की कांग्रेसमें मिले थे, उस साल वह मुस्लिम-लीगके सभापति थे। उन्होंने पुरानी पहचान निकालकर जब कभी पटना आऊँ तो अपने यहाँ ठहरनेका निमंत्रण दिया था। इस निमंत्रणके आधारपर मैंने उन्हें चिट्ठी लिखी और अपने कामका भी परिचय दिया। वह तुरंत अपनी मोटर लेकर आये और मुझे अपने यहाँ चलनेका इसरार करने लगे। इसके लिए मैंने उनको धन्यवाद दिया और कहा कि "मुझे अपने गन्तव्य स्थानपर पहली ट्रेनसे रवाना कर दीजिए। रेलवे गाइडसे मुकामका मुझे कुछ पता नहीं लग सकता।" उन्होंने राजकुमार शुक्लके साथ बात की और कहा कि पहले मुजफ्फरपुर जाना चाहिए। उसी दिन शामको मुजफ्फरपुर गाड़ी जाती थी। उसमें उन्होंने मुझे रवाना कर दिया। मुजफ्फरपुरमें उस समय आचार्य कृपलानी रहते थे। उन्हें मैं पहचानता था। जब मैं हैदराबाद गया था तब उनके महात्यागकी, उनके जीवनकी और उनके द्रव्यसे चलनेवाले आश्रमकी बात डाक्टर चोइथरामसे सुनी थी। वह मुजफ्फरपुर-कालेजमें प्रोफेसर थे; पर उस समय वहाँसे मुक्त हो गए थे। मैंने उन्हें तार दिया।

ट्रेन आधी रातको मुजफ्फरपुर पहुंचती थी। वह अपने शिष्य-मंडलको लेकर स्टेशनपर आ पहुंचे। परन्तु उनके घर-बार कुछ नहीं था। वह अध्यापक मलकानीके यहाँ रहते थे। मुझे उनके यहाँ ले गए। मलकानी भी वहाँके कालेजमें प्रोफेसर थे और उस जमानेमें सरकारी कालेजके प्रोफेसरका मुझे अपने यहाँ ठहराना एक असाधारण बात थी।

कृपलानीजीने बिहारकी, खासकर तिरहुत-विभागकी दीन-दशाका वर्णन किया और मुझे अपने कामकी कठिनाईका अंदाज बताया। कृपलानीजीने बिहारियोंके साथ गाढ़ा संबंध कर लिया था। उन्होंने मेरे कामकी बात वहाँके लोगोंसे कर रखी थी। सुबह होते ही कुछ वकील मेरे पास आये।

ब्रजकिशोरबाबू दरभंगासे और राजेन्द्रबाबू पुरी से आये। यहाँ जो मैंने देखा तो यह लखनऊवाले ब्रजकिशोरप्रसाद नहीं थे। उनके अन्दर एक बिहारीकी नम्रता, सादगी, भलमनसी और असाधारण श्रद्धा देखकर मेरा हृदय हर्षसे फूल उठा। उनके प्रति बिहारी वकील-मंडलका आदर-भाव देखकर मुझे आनंद और आश्चर्य दोनों हुए।

तबसे इस वकील-मंडलके और मेरे बीच जन्म-भरके लिए स्नेह-गांठ बँध गई। ब्रजकिशोरबाबूने मुझे सब बातोंसे वाकिफ कर दिया। वह गरीब किसानोंकी तरफसे मुकदमे लड़ते थे। ऐसे मुकदमे उस समय भी चल रहे थे। ऐसा करके वह कुछ व्यक्तियोंको राहत दिलाते थे; पर कभी-कभी इसमें भी असफल हो जाते थे। इन भोले-भाले किसानोंसे वह फीस लिया करते थे। त्यागी होते हुए भी ब्रजकिशोरबाबू या राजेन्द्रबाबू फीस लेनेमें संकोच न करते थे। "पेशेके काममें अगर फीस न लें तो हमारा घर-खर्च नहीं चल सकता और हम लोगोंकी मदद भी नहीं कर सकते।" यह उनकी दलील थी। उनकी तथा बंगाल-बिहारके बैरिस्टरोंकी फीसके कल्पनातीत अंक सुनकर मैं चकित रह गया। "· · ·को हमने 'ओपीनियन' के लिए दस हजार

रुपये दिये।" हजारोंके सिवा तो मैंने बात ही नहीं सुनी।

इस मित्र-मंडलने इस विषयमें मेरा मीठा उलहना प्रेमके साथ सुना। उन्होंने उसका उलटा अर्थ नहीं लगाया।

मैंने कहा—"इन मुकदमोंकी मिसलें देखनेके बाद मेरी तो यह राय होती है कि हम यह मुकदमेबाजी अब छोड़ दें। ऐसे मुकदमोंसे बहुत कम लाभ होता है। जहाँ प्रजा इतनी कुचली जाती है, जहाँ सब लोग इतने भयभीत रहते हैं, वहाँ अदालतोंके द्वारा बहुत कम राहत मिल सकती है। इसका सच्चा इलाज तो है लोगोंके दिलसे डरको निकाल देना। इसलिए अब जबतक यह 'तीन कठिया' प्रथा मिट नहीं जाती तबतक हम आरामसे नहीं बैठ सकते। मैं तो अभी दो दिनमें जितना देख सकूँ देखनेके लिए आया हूँ, परन्तु मैं देखता हूँ कि इस काममें दो वर्ष भी लग सकते हैं, परन्तु इतने समयकी भी जरूरत हो तो मैं देनेके लिए तैयार हूँ। मुझे यह तो सूझ रहा है कि मुझे क्या करना चाहिए; परन्तु आपकी मददकी जरूरत है।"

मैंने देखा कि ब्रजकिशोरबाबू निश्चित विचारके आदमी हैं। उन्होंने शांतिके साथ उत्तर दिया—"हमसे जो-कुछ बन पड़ेगी वह मदद हम जरूर करेंगे।

"हम इतने लोग तो, आप जो काम सौंपेंगे, करनेके लिए तैयार रहेंगे। इनमेंसे जितनोंको आप जिस समय चाहेंगे, आपके पास हाजिर रहेंगे। जेल जानेकी बात अलबत्ता हमारे लिए नई है; पर उसकी भी हिम्मत करनेकी हम कोशिश करेंगे।"

५९
अहिंसा-देवीका साक्षात्कार

मुझे तो किसानोंकी जाँच करनी थी। यह देखना था कि नीलके मालिकोंकी जो शिकायत किसानोंको थी, उसमें कितनी सचाई है। इसमें हजारों किसानोंसे मिलनेकी जरूरत थी; परन्तु इस तरह आमतौरपर उनसे मिलने-जुलनेके पहले, निलहे

मालिकोंकी बात सुन लेने और कमिश्नर से मिलनेकी आवश्यकता दिखाई दी। मैंने दोनोंको चिट्ठी लिखी।

मालिकोंके मंडलके मंत्रीसे मिला तो उन्होंने मुझसे साफ कह दिया—"आप तो बाहरी आदमी हैं। आपको हमारे और किसानोंके झगड़ेमें न पड़ना चाहिए। फिर भी यदि आपको कुछ कहना हो तो लिखकर भेज दीजिएगा।" मैंने मंत्रीसे सौजन्यके साथ कहा, "मैं अपनेको बाहरी आदमी नहीं समझता और किसान यदि चाहते हों तो उनकी स्थितिकी जाँच करनेका मुझे पूरा अधिकार है।" कमिश्नर साहबसे मिला तो उन्होंने मुझे धमकानेसे ही शुरूआत की और आगे कोई कारंवाई न कर मुझे तिरहुत छोड़नेकी सलाह दी।

मैंने साथियोंसे सब बातें करके कहा कि संभव है सरकार जाँच करनेसे मुझे रोके और जेल-यात्राका समय शायद मेरे अंदाजसे पहले ही आजाय। यदि पकड़े जानेका ही मौका आवे तो मुझे मोतीहारी, और हो सके तो, बेतियामें गिरफ्तार होना चाहिए। इसलिए जितनी जल्दी हो सके, मुझे वहाँ पहुँच जाना चाहिए।

हम आधे रास्ते ही पहुंचे होंगे कि पुलिस सुपरिंटेंडेंटका सिपाही आ पहुंचा और उसने मुझसे कहा—"सुपरिंटेंडेंट साहबने आपको सलाम भेजा है।" मैं उसका मतलब समझ गया। धरणी-धर बाबूसे मैंने कहा—"आप आगे चलिए," और मैं उस जासूसके साथ गाड़ीमें बैठा जो वह किरायेपर लाया था। उसने मुझे चंपारन छोड़ देनेका नोटिस दिया। घर लेजाकर उसपर मेरे दस्तखत माँगे। मैंने जवाब लिख दिया कि "मैं चम्पारन छोड़ना नहीं चाहता। आज मुफस्सिलमें जाकर जाँच करनी है।" इस हुक्मका अनादर करनेके अपराधमें दूसरे ही दिन मुझे अदालतमें हाजिर होनेका समन मिला।

सारी रात जागकर मैंने जगह-जगह चिट्ठियाँ लिखीं और जो-जो आवश्यक बातें थीं वे ब्रजकिशोरबाबूको

समझा दीं।

साथियोंके साथ कुछ सलाह करके मैंने यह निश्चय किया था कि कांग्रेसके नामपर कुछ भी काम यहाँ न किया जाय। नामसे नहीं, बल्कि हमको कामसे मतलब है। कथनीकी नहीं, करनीकी जरूरत है। कांग्रेसका नाम यहाँ लोगोंको खलता है।

इसलिए कांग्रेसकी तरफसे किसी छिपे या प्रकट दूतों द्वारा कोई जमीन तैयार नहीं कराई गई थी, कोई पेशबंदी नहीं की गई थी। राजकुमार शुक्लमें हजारों लोगोंमें प्रवेश करनेका सामर्थ्य न था। वहाँ लोगोंके अंदर किसीने भी आजतक कोई राजनैतिक काम नहीं किया था। चंपारनके सिवा बाहरकी दुनियाको वे जानते ही न थे। फिर भी उनका और मेरा मिलाप किसी पुराने मित्रके मिलाप-सा था। अतएव यह कहनेमें मुझे कोई अत्युक्ति नहीं मालूम होती, बल्कि यह अक्षरशः सत्य है कि मैंने वहाँ ईश्वरका, अहिंसाका और सत्यका साक्षात्कार किया। जब साक्षात्कार-विषयक अपने इस अधिकारपर विचार करता हूँ तो मुझे उसमें प्रेमके सिवा और कोई बात नहीं दिखाई पड़ती और यह प्रेम अथवा अहिंसाके प्रति मेरी अचल श्रद्धाके सिवा और कुछ नहीं है।

चंपारनका यह दिन मेरे जीवनमें ऐसा था जिसे मैं कभी नहीं भूल सकता। यह मेरे तथा किसानोंके लिए उत्सवका दिन था; मुझपर सरकारी कानूनके मुताबिक मुकदमा चलाया जानेवाला था, परंतु सच पूछा जाय तो मुकदमा सरकार पर चल रहा था। कमिश्नरने जो जाल मेरेलिए फैलाया था उसमें उसने सरकारको ही फँसा मारा था।

मुकदमा चला। सरकारी वकील, मैजिस्ट्रेट वगैरा चिंतित हो रहे थे। उन्हें सूझ नहीं पड़ता था कि क्या करें। सरकारी वकील तारीख बढ़ानेकी कोशिश कर रहा था। मैं बीचमें पड़ा और मैंने अर्ज की कि "तारीख बढ़ानेकी जरूरत नहीं है, क्योंकि मैं अपना यह अपराध कबूल करना चाहता हूँ कि मैंने

चंपारन छोड़नेके नोटिसका अनादर किया है।" यह कहकर मैंने जो अपना छोटा-सा वक्तव्य तैयार किया था वह पढ़ सुनाया। वह इस प्रकार था —

"अदालतकी आज्ञा लेकर मैं संक्षेपमें यह बतलाना चाहता हूं कि नोटिस द्वारा मुझे जो आज्ञा दी गई है उसकी अवज्ञा मैंने क्यों की। मेरी समझमें यह स्थानीय अधिकारियों और मेरे बीच मतभेदका प्रश्न है। मैं इस प्रदेशमें राष्ट्रीय तथा मानव-सेवा करनेके विचारसे आया हूं। यहाँ आकर उन रैयतोंकी सहायता करनेके लिए मुझसे बहुत आग्रह किया गया था, जिनके साथ कहा जाता है कि, निल्हे साहब अच्छा व्यवहार नहीं करते; पर जबतक मैं सब बातें अच्छी तरह जान न लेता तबतक उन लोगोंकी कोई सहायता नहीं कर सकता था। इसलिए यदि हो सके तो अधिकारियों और निल्हे साहबोंकी सहायतासे म सब बातें जाननेके लिए आया हूं। मैं किसी दूसरे उद्देश्यसे यहाँ नहीं आया हूं। मुझे यह विश्वास नहीं होता कि मेरे यहाँ आनेसे किसी प्रकार शांति-भंग या प्राणहानि हो सकती है। मैं कह सकता हूं कि मुझे ऐसी बातोंका बहुत अनुभव है। अधिकारियोंको जो कठिनाइयां होती हैं, उनको मैं समझता हूं, और मैं यह भी मानता हूं कि उन्हें जो सूचना मिलती है, वे केवल उसीके अनुसार काम कर सकते हैं। कानून माननेवाले व्यक्तिकी तरह मेरी प्रवृत्ति यही होनी चाहिए थी और ऐसी प्रवृत्ति हुई भी कि मैं इस आज्ञाका पालन करूं, पर मैं उन लोगोंके प्रति, जिनके लिए मैं यहाँ आया हूं, अपने कर्त्तव्यका उल्लंघन नहीं कर सकता था। मैं समझता हूं कि मैं उन लोगोंके बीच रहकर ही उनकी भलाई कर सकता हूं। इस कारण मैं स्वेच्छासे इस स्थानसे नहीं जा सकता था। दो कर्त्तव्योंके परस्पर विरोधकी दशामें मैं केवल यही कर सकता था कि अपनेको हटानेकी सारी जिम्मेदारी शासकोंपर छोड़ दूं। मैं भली-भाँति जानता हूं कि भारतके सार्वजनिक जीवनमें मेरी-जैसी स्थितिवाले लोगोंको आदर्श

उपस्थित करनेमें बहुत ही सचेत रहना पड़ता है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि जिस स्थितिमें मैं हूं, उस स्थितिमें प्रत्येक प्रतिष्ठित व्यक्ति-को वही काम करना सबसे अच्छा है, जो इस समय मैंने करना निश्चित किया है और वह यह है कि बिना किसी प्रकारका विरोध किये सरकारी आज्ञा न माननेका दंड सहनेके लिए तैयार हो जाऊं। मैंने जो बयान दिया है, वह इसलिए नहीं कि जो दंड मुझे मिलनेवाला है, वह कम किया जाय, बल्कि इस बातको दिखलानेके लिए कि मैंने सरकारी आज्ञाकी अवज्ञा इस कारण-से नहीं की कि मुझे सरकारके प्रति विश्वास नहीं है, बल्कि इस कारणसे कि मैंने उससे भी उच्चतर आज्ञा—अपनी विवेक-बुद्धिकी आज्ञा—का पालन करना उचित समझा है।"

अब मुकदमेकी सुनवाई मुल्तवी रखनेका कुछ कारण ही नहीं रह गया था, परन्तु मजिस्ट्रेट या सरकारी वकील इस परि-णामकी आशा नहीं रखते थे। अतएव सजाके लिए अदालतने फैसला मुल्तवी रखा। मैंने वाइसरायको तार द्वारा सारी हालत-की सूचना दे दी थी, पटना भी तार दे दिया था। भारतभूषण पंडित मालवीयजी वगैराको भी तार द्वारा समाचार भेज दिया था। अब सजा सुननेके लिए अदालतमें जानेका समय आने-के पहले ही मुझे मजिस्टेट का हुक्म मिला कि लाट साहबके हुक्म-से मुकदमा उठा लिया गया है और कलक्टरकी चिट्ठी मिली कि आप जो कुछ जांच करना चाहें, शौकसे करें और उसमें जो कुछ मदद सरकारी कर्मचारियों की लेना चाहें, लें। ऐसे तत्काल और शुभ परिणामकी आशा हममेंसे किसीको नहीं थी।

६०
कार्य-पद्धति

चंपारनकी जांचका विवरण देना मानो चंपारनके किसानोंका इतिहास देना है। यह सारा इतिहास इन अध्यायोंमें नहीं दिया जा सकता। फिर चंपारनकी जांच क्या थी, अहिंसा और सत्यका

बड़ा प्रयोग ही था।[१]

सार्वजनिक कामके लिए लोगोंसे रुपया माँगनेकी प्रथा आजतक न थी। ब्रजकिशोरबाबूका यह मंडल मुख्यत: वकील-मंडल था। इसलिए जब कभी आवश्यकता होती तो या तो वह अपनी जेबसे रुपया देते या कुछ मित्रोंसे माँग लेते। उनका खयाल यह था कि जो लोग खुद रुपये-पैसेसे सुखी हैं, वे सर्वसाधारणसे धनकी भिक्षा कैसे माँग सकते हैं? और मेरा यह दृढ़ निश्चय था कि चंपारनकी रैयतसे एक कौड़ी न लेनी चाहिए। यदि ऐसा करते तो उसका उलटा अर्थ होता। यह भी निश्चय था कि इस जाँचके लिए भारतवर्षमें भी आम लोगोंसे चंदा न करना चाहिए। ऐसा करनेसे इस जाँचको राष्ट्रीय और राजनैतिक स्वरूप प्राप्त हो जाता। बंबईके मित्रोंने १५०००) सहायता भेजनेका तार दिया, मगर गरीबीके साथ भरसक कम खर्च करके यह आन्दोलन चलाना था। इसलिए बहुत रुपयेकी तो आवश्यकता भी नहीं थी और दरहकीकत जरूरत पड़ी भी नहीं। मेरा खयाल है कि सब मिलाकर दो-तीन हजारसे ज्यादा खर्च न हुआ होगा। और मुझे याद है कि जितना रुपया इकट्ठा किया था, उसमेंसे भी पाँच सौ या हजार बच गया था।

शुरूमें वहाँ हमारी रहन-सहन बड़ी विचित्र थी। मेरे लिए तो वह रोज हंसी-मजाकका विषय हो गया था। इस वकील मंडलमें हरेकके पास एक नौकर रसोइया होता। हरेककी अलग रसोई बनती। रातके बारह बजे तक भी वे लोग खाना खाते। ये लोग खर्च वगैरा तो सब अपना ही करते थे; फिर भी मेरेलिए यह रहन-सहन एक आफत थी। अपने इन साथियोंके साथ मेरी स्नेह-गाँठ ऐसी मजबूत हो गई थी कि हमारे दरमियान कभी गलतफहमी न होने पाती थी। मेरे शब्द-बाणोंको वे प्रेमसे झेलते। अंतमें यह तय पाया कि नौकरोंको छुट्टी दे दी जाय, सब

---

१. अधिक विवरण जाननेके लिए डा० राजेन्द्रप्रसाद-लिखित 'चंपारनमें महात्मा गांधी' नामक पुस्तक देखिए। —सम्पादक

एक साथ खाना खावें और भोजनके नियमोंका पालन करें। उसमें सभी निरामिषाहारी न थे। और तरह-तरहकी अलग-अलग रसोई बनानेका इंतजाम करनेसे खर्च बढ़ता था। इससे यही निश्चय किया गया कि निरामिष भोजन ही पकाया जाय और एक ही जगह सबकी रसोई बनाई जाय। भोजन भी सादा ही रखनेपर जोर दिया जाता था। इससे खर्च बहुत कम पड़ा, हम लोगोंके काम करनेकी सामर्थ्य बढ़ी और समय बच गया।

हमें अधिक शक्तिकी आवश्यकता भी थी, क्योंकि किसानों-के झुंड-के-झुंड अपनी कहानी लिखानेके लिए आने लगे थे। कहानी-लेखक हमेशा पाँच-सात रहते थे। फिर भी शामतक सबके बयान पूरे न हो पाते थे। कहानी-लेखकोंको कुछ नियम पालन करने पड़ते थे। वे ये थे—"प्रत्येक किसानसे जिरह करनी चाहिए। जिरहमें जो गिर जाय, उसका बयान न लिखा जाय। जिसकी बात शुरूसे ही कमजोर पाई जाय, वह न लिखी जाय।" इन नियमोंके पालनसे यद्यपि कुछ समय अधिक जाता था, फिर भी उससे सच्चे और साबित होने लायक बयान ही लिखे जाते थे।

जब ये बयान लिखे जाते तो खुफिया पुलिसके कोई-न-कोई कर्मचारी वहाँ मौजूद रहते। इन कर्मचारियोंको हम रोक सकते थे; परन्तु हमने शुरूसे यह निश्चय किया था कि उन्हें न रोका जाय। यही नहीं, बल्कि उनके प्रति सौजन्य रखा जाय और जो खबरें उन्हें दी जा सकती हों, दी जायँ। जो बयान लिखे जाते, उनको वे देखते और सुनते थे। इससे यह लाभ हुआ कि लोगोंमें अधिक निर्भयता आ गई। और बयान उनके सामने लिये जानेसे अत्युक्तिका भय कम रहता था। इस डरसे कि झूठ बोलेंगे तो पुलिसवाले फँसा देंगे, उन्हें सोच-समझकर बोलना पड़ता था।

मैं निलहे मालिकोंको चिढ़ाना नहीं चाहता था; बल्कि अपने सौजन्यसे उन्हें जीतनेका प्रयत्न करता था। इसलिए जिनके बारे-में विशेष शिकायतें होतीं, उन्हें मैं चिट्ठी लिखता और मिलनेकी कोशिश भी करता। उनके मंडलसे भी मैं मिला था और रैयत-

की शिकायतें उनके सामने पेश की थीं और उनका कहना भी सुन लिया था। उनमेंसे कितने ही तो मेरा तिरस्कार करते थे, कितने ही उदासीन थे और वाज-वाज सौजन्य भी दिखाते थे।

एक तरफ तो समाज-सेवाके काम चल रहे थे और दूसरी ओर लोगोंके दुःखकी कथाएँ लिखते रहनेका काम दिन-दिन बढ़ रहा था। जब हजारों लोगोंकी कहानियां लिखी गई तो भला इसका असर हुए बिना कैसे रह सकता था? मेरे मुकामपर लोगोंकी ज्यों-ज्यों आमदरफ्त बढ़ती गई, त्यों-त्यों निलहे साहबोंका क्रोध भी बढ़ता चला। मेरी जाँच बन्द करानेकी उनकी कोशिशें उनकी ओरसे दिन-दिन अधिकाधिक होने लगीं। एक दिन मुझे बिहार-सरकार का पत्र मिला, जिसका भावार्थ यह था, "आपकी जाँचमें काफी दिन लग गए हैं। आपको अब अपना काम खत्म करके बिहार छोड़ देना चाहिए।" पत्र यद्यपि सौजन्यसे युक्त था, परंतु उसका अर्थ स्पष्ट था। मैंने लिखा, "जाँचमें तो अभी और दिन लगेंगे और जाँचके बाद भी जबतक लोगोंका दुःख दूर न होगा मेरा इरादा बिहार छोड़नेका नहीं है।"

मेरी जाँच बन्द करनेका एक ही अच्छा इलाज सरकारके पास था। लोगोंकी शिकायतोंको सच मानकर उन्हें दूर करना अथवा उनकी शिकायतोंपर ध्यान देकर अपनी तरफ से एक जाँच समिति नियुक्त कर देना। गवर्नर सर एडवर्ड गेटने मुझे बुलाया और कहा कि मैं जाँच-समिति नियुक्त करनेके लिए तैयार हूँ, और उसका सदस्य बननेके लिए मुझे निमंत्रण दिया। दूसरे सदस्योंके नाम देखकर और अपने साथियोंसे सलाह करके इस शर्तपर मैंने सदस्य होना स्वीकार किया कि मुझे अपने साथियोंके साथ सलाह-मशविरा करनेकी छुट्टी रहनी चाहिए और सरकारको समझ लेना चाहिए कि सदस्य बन जानेसे किसानोंका हिमायती रहनेका मेरा अधिकार नहीं जाता रहेगा एवं जाँच होनेके बाद यदि मुझे संतोष न हो तो किसानोंकी रहनुमाई करनेकी मेरी स्वतंत्रता जाती न रहेगी।

सर एडवर्ड गेटने इन शर्तोंको वांछित समझकर मंजूर किया। स्वर्गीय सर फ्रेंक स्लाई उसके अध्यक्ष बनाये गए। जाँच-समितिने किसानोंकी तमाम शिकायतोंको सच्चा बताया और यह सिफारिश की कि निलहे लोग अनुचित रीतिसे प्राप्त किये रुपयोंका कुछ भाग वापस कर दें और 'तीन-कठिया' का कायदा रद कर दिया जाय।

इस रिपोर्टके सांगोपांग होनेमें सर एडवर्ड गेटका बड़ा हाथ था। वह यदि मजबूत न रहे होते और पूरी-पूरी कुशलतासे काम न लिया होता तो जो रिपोर्ट एकमतसे लिखी गई, वह नहीं लिखी जा सकती थी और अन्तमें जो कानून बना, वह न बन पाता। निलहोंकी सत्ता बहुत प्रबल थी। रिपोर्ट पास हो जानेके बाद भी कितनों हीने बिलका घोर विरोध किया था, परन्तु सर एडवर्ड गेट अंत तक दृढ़ रहे और समितिकी तमाम सिफारिशोंका पूरा-पूरा पालन उन्होंने कराया।

इस तरह सौ वर्षका पुराना यह तीन-कठिया कानून रद हुआ और उसके साथ-ही-साथ निलहोंका राज्य भी अस्त हो गया। रैयतने, जो दबी हुई थी, अपने बलको कुछ पहचाना और उसका यह वहम दूर हो गया कि नीलका दाग तो धोये नहीं धुलता।

६१
मजदूरोंसे संबंध

चंपारन जाँच-समितिके कामसे जरा फुरसत मिली ही थी कि अहमदाबादसे श्रीमती अनसूया बहनकी चिट्ठी उनके 'मजदूर संघ' के संबंधमें मिली। मजदूरोंका वेतन कम था। बहुत दिनोंसे उनकी माँग थी कि वेतन बढ़ाया जाय। इस संबंधमें उनका पथ-प्रदर्शन करनेका उत्साह मुझे था। यह काम यों तो छोटा-सा था, परन्तु मैं उसे दूर बैठकर नहीं कर सकता था। इससे मैं तुरंत अहमदाबाद पहुँचा।

इसमें मेरी स्थिति बड़ी नाजुक थी। मजदूरोंका पक्ष मुझे मजबूत मालूम हुआ। श्रीमती अनसूया बहनको अपने सगे भाईके साथ लड़नेका प्रसंग आ गया था। मजदूरों और मालिकोंके इस दारुण युद्धमें श्री अंबालाल साराभाईने मुख्य भाग लिया था। मिल-मालिकोंके साथ मेरा मधुर संबंध था। उनके साथ लड़ना मेरेलिए विषम काम था। मैंने उनसे आपसमें बातचीत करके अनुरोध किया कि पंच बनाकर मजदूरोंकी माँगका फैसला कर लीजिए, परंतु मालिकोंने अपने और मजदूरोंके बीचमें पंचकी मध्यस्थताको पसंद न किया।

तब मजदूरोंको मैंने हड़ताल कर देनेकी सलाह दी। यह सलाह देनेके पहले मैंने मजदूरों और उनके नेताओंसे काफी पहचान और बातचीत कर ली थी। उन्हें मैंने हड़तालकी नीचे लिखी शर्तें समझाईं—

(१) किसी हालतमें शांति-भंग न करना।
(२) जो कामपर जाना चाहें, उनके साथ किसी किस्मकी ज्यादती या जबरदस्ती न करना।
(३) मजदूर भिक्षान्न न खावें।
(४) हड़ताल चाहे जबतक करनी पड़े, वे दृढ़ रहें और जब रुपया न रहे तो दूसरी मजदूरी करके पेट पालें।

अगुआ लोग इन शर्तोंको समझ गए और उन्हें ये पसंद भी आईं। अब मजदूरोंने एक आम सभा की और उसमें प्रस्ताव पास किया कि जबतक हमारी माँग न स्वीकार की जाय अथवा उसपर विचार करनेके लिए पंच मुकर्रर न हों तबतक हम कामपर न जायंगे।

इस हड़तालमें मेरा परिचय श्री वल्लभभाई और श्री शंकरलाल बैंकरसे बहुत अच्छी तरह हो गया। श्रीमती अनसूयाबहनसे तो मेरा परिचय पहले ही खूब हो चुका था।

हड़तालियोंकी सभा रोज साबरमतीके किनारे एक पेड़के नीचे होने लगी। वे सैकड़ोंकी संख्यामें आते। मैं रोज उन्हें अपनी

प्रतिज्ञाका स्मरण कराता, शांति रखने और स्व-मानकी रक्षा करनेकी आवश्यकता उन्हें समझाता था। वे अपना 'एकटेक' का झण्डा लेकर रोज शहरमें जुलूस निकालते और सभामें आते।

यह हड़ताल इक्कीस दिनों तक चली। इस बीचमें समय-समयपर मालिकोंसे बातचीत करता और उन्हें इन्साफ करनेके लिए समझाता। "हमें भी तो अपनी टेक रखनी है। हमारा और मजदूरोंका बाप-बेटोंका संबंध है.... उसके बीचमें यदि कोई पड़ना चाहे तो इसे हम कैसे सहन कर सकते हैं? बाप-बेटोंमें पंचकी क्या जरूरत है?" यह जवाब मुझे मिलता।

मजदूरोंने पहले दो हफ्ते बड़ी हिम्मत दिखलाई। शांति भी खूब रखी। रोजकी सभाओंमें भी वे बड़ी संख्यामें आते थे। मैं उन्हें रोज ही प्रतिज्ञाका स्मरण कराता। वे रोज पुकार-पुकार कर कहते, "हम मर जायँगे, पर अपनी टेक कभी न छोड़ेंगे।"

किंतु अंतमें वे ढीले पड़ने लगे। और जैसे कि निर्बल आदमी हिंसक होता है, वैसे ही, निर्बल पड़ते ही मिलमें जानेवाले मजदूरोंसे द्वेष करने लगे और मुझे डर लगा कि शायद कहीं उनपर ये बलात्कार न कर बैठें। रोजकी सभामें आदमियोंकी हाजिरी कम होने लगी। जो आते भी उनके चेहरोंपर उदासी छाई रहती थी। मुझे खबर मिली कि मजदूर बिगड़ने लगे हैं। मैं तरद्दुदमें पड़ा। सोचने लगा कि ऐसे समयमें मेरा क्या कर्त्तव्य हो सकता है। दक्षिण अफ्रीकाके मजदूरों की हड़तालका अनुभव मुझे था, मगर यह अनुभव मेरेलिए नया था। जिस प्रतिज्ञाके करानेमें मेरी प्रेरणा थी, जिसका साक्षी मैं रोज ही बनता था, वह प्रतिज्ञा कैसे टूटे? यह विचार अभिमान कहा जायगा या मजदूरोंके और सत्यके प्रति प्रेम समझा जायगा?

सवेरेका समय था। मैं सभामें था। मुझे कुछ पता नहीं था कि क्या करना है, मगर सभामें ही मेरे मुंहसे निकल गया—"अगर मजदूर फिरसे तैयार न हो जायं और जबतक कोई फैसला न हो जाय तबतक हड़ताल न निभा सकें, तो मैं तबतक

उपवास करूँगा। यहाँपर जो मजदूर थे, वे हैरतमें आ गए। अनसूयाबहनकी आँखोंसे आँसू निकल पड़े। मजदूर बोल उठे, "आप नहीं, हम उपवास करेंगे। आपको उपवास नहीं करने देंगे। हमें माफ कीजिए। हम अपनी प्रतिज्ञा पालेंगे।"

मैंने कहा, "तुम्हारे उपवास करनेकी कोई जरूरत नहीं है। तुम अपनी प्रतिज्ञाका ही पालन करो तो बस है। हमारे पास द्रव्य नहीं है। मजदूरोंको भिक्षान्न खिलाकर हमें हड़ताल नहीं करनी है। तुम कहीं कुछ मजदूरी करके अपना पेट भरने लायक कमा लो तो चाहे हड़ताल कितनी ही लम्बी क्यों न हो, तुम निश्चित रह सकते हो। और मेरा उपवास तो कुछ-न-कुछ फैसला करनेके पहले टूटनेवाला नहीं है।"

वल्लभभाई मजदूरोंके लिए म्युनिसिपैलिटीमें कार्य ढूंढ़ते थे; मगर वहाँपर कुछ मिलने लायक नहीं था। आश्रमके बुनाई-घरमें बालू भरनी थी। मगनलालने सूचना दी कि उसमें बहुत-से मजदूरोंको काम दिया जा सकता है। मजदूर काम करनेको तैयार हुए। अनसूयाबहनने पहली टोकरी उठाई और नदीमें से बालूकी टोकरियाँ उठाकर लानेवाले मजदूरोंका ठठ लग गया। वह दृश्य देखने लायक था। मजदूरोंमें नया जोश आया। उन्हें पैसा चुकानेवाले चुकाते-चुकाते थक जाते।

इस उपवासमें एक दोष था। मैं यह लिख चुका हूँ कि मिल-मालिकोंके साथ मेरा मधुर संबंध था। इसलिए यह उपवास उन्हें स्पर्श किये बिना नहीं रह सकता था। मैं जानता था कि बतौर सत्याग्रहीके उनके विरुद्ध मैं उपवास नहीं कर सकता। उनके ऊपर जो कुछ असर पड़े, वह मजदूरोंकी हड़तालका ही पड़ना चाहिए। मेरा प्रायश्चित्त उनके दोषके लिए न था, किन्तु मजदूरोंके दोषके लिए था। मैं मजदूरोंका प्रतिनिधि था, इसलिए उनके दोषसे दूषित होना था। मालिकोंसे तो मैं सिर्फ विनय ही कर सकता था। उनके विरुद्ध उपवास करना तो बलात्कार गिना जायगा। तो भी मैं जानता था कि मेरे उपवासका असर उनपर

पड़े बिना नहीं रह सकता। पड़ा भी सही, किंतु मैं अपनेको रोक नहीं सकता था। मैंने ऐसा दोषमय उपवास करनेका अपना धर्म प्रत्यक्ष देखा।

मालिकोंको मैंने समझाया, "मेरे उपवाससे आपको अपना मार्ग जरा भी छोड़नेकी जरूरत नहीं।" उन्होंने मुझपर कड़ुए-मीठे ताने भी मारे। उन्हें इसका अधिकार था, परन्तु वे केवल दयाकी ही खातिर समझौता करनेके रास्ते ढूंढ़ने लगे। अनसूयाबहनके यहाँ उनकी सभाएँ होने लगीं। श्री आनंदशंकर ध्रुव भी बीचमें पड़े। अंतमें वह पंच चुने गए और हड़ताल टूटी। मुझे तीन ही दिन उपवास करना पड़ा। मालिकोंने मजदूरोंको मिठाई बाँटी। इक्कीसवें दिन समझौता हुआ और समझौतेका सम्मेलन हुआ। उसमें मिल-मालिक और कमिश्नर हाजिर थे। कमिश्नरने मजदूरोंको सलाह दी थी कि "तुम्हें हमेशा मि० गांधीकी बात माननी चाहिए।" इन्हीं कमिश्नर साहबसे, इस घटनाके कुछ दिनों बाद, तुरंत ही मुझे एक लड़ाई लड़नी पड़ी थी। समय बदला, इसलिए वह भी बदले और खेड़ाके पाटीदारों-को मेरी सलाह न माननेको कहने लगे।

६२

रौलट-ऐक्ट और मेरा धर्म-संकट

खेडा जिलेके किसानोंके सत्याग्रहकी बात यहाँ छोड़ दी जाती है। जिस सरकारने इच्छा या अनिच्छासे भी किसानोंकी माँग कबूल कर ली, उसी सरकारकी अब मदद करनेका मौका आ गया। यूरोप में महायुद्ध चल रहा था। दिल्लीमें होनेवाली युद्ध-परिषदमें मुझे बुलाया गया। मेरे सामने धर्म-संकट था। इंग्लैंडके दूसरे राज्योंके साथ की हुई गुप्त संधियाँ बड़ी चर्चाका विषय हो रही थीं। मैंने अपना एतराज पेश किया। वाइसराय चेम्सफोर्ड साहबने मुझे चर्चाके लिए बुलाया। चर्चाके बाद मैंने शरीक होना मंजूर किया और पत्र लिखकर अपना मंतव्य प्रकट

किया। लोकमान्य तिलक और अलीभाई आदि नेताओंकी गैरहाजिरीके बारेमें अपना खेद प्रकट किया और लोगोंकी राजनैतिक माँगों और लड़ाईसे उत्पन्न होनेवाली मुसलमानोंकी माँगोंका उल्लेख किया।

इसके बाद रंगरूट भरती करनेका काम था। खेड़ाके किसानोंने यह बात पसंद नहीं की। फिर भी हमको काफी नाम मिलने लगे। मेरे इस कार्यकी काफी टीका हुई है, परन्तु उसको शांतिसे सुनना मैंने अपना धर्म माना। जिस सल्तनतमें हम भविष्यमें संपूर्ण हिस्सेदार बननेकी आशा करते थे, उसके आपत्ति-कालमें मदद करना हमारा धर्म ही था। मेरेलिए यह वफादारी-का भी प्रश्न था। मैं तो अंग्रेजोंके जैसी वफादारी प्रत्येक भारत-वासीमें प्रकट करना चाहता था।

परंतु मेरी लंबी बीमारीने और थोड़े ही दिनोंमें समाप्त होनेवाले युद्धने मेरे मनोरथको अधूरा ही रहने दिया। मैं स्वास्थ्य-लाभके लिए माथेरान गया।

मित्रोंसे ऐसी सलाह पाकर कि माथेरान जानेसे शरीर जल्द ही स्वस्थ हो जायगा, मैं माथेरान गया, परंतु वहाँका पानी भारी था, इसलिए मेरे-जैसे बीमारका वहाँ रहना मुश्किल हो गया। पेचिशके कारण गुदा-द्वार बहुत ही नाजुक पड़ गया था और वहाँ घाव हो जानेसे मल-त्यागके समय बड़ा दर्द होता था। इसलिए कुछ भी खानेमें डर लगता था। एक सप्ताहमें माथेरानसे लौटा। मेरे स्वास्थ्यकी रखवाली करनेका काम श्री शंकरलालने अपने हाथमें ले लिया। उन्होंने डा० दलालसे सलाह लेनेका मुझे बहुत आग्रह किया। डा० दलाल आये। उनकी तत्काल निर्णय करनेकी शक्तिने मुझे मोह लिया। उन्होंने कहा—"जबतक आप दूध न लेंगे तबतक आपका शरीर नहीं सुधरेगा। शरीर सुधारनेके लिए तो आपको दूध लेना चाहिए और लोहे व संखियाके इंजेक्शन लेने चाहिए। आप इतना करें तो मैं आपका शरीर फिरसे पुष्ट करनेकी गारंटी देता हूँ।"

"आप इंजेक्शन दें, लेकिन मैं दूध नहीं लूंगा।" मैंने जवाब दिया।

"आपकी दूधवाली प्रतिज्ञा क्या है?" डाक्टरने पूछा।

"गाय-भैंसके फूंका लगाकर दूध निकालनेकी क्रिया की जाती है। यह जाननेपर मुझे दूधके प्रति तिरस्कार हो आया और यह तो मैं सदा मानता ही था कि वह मनुष्यकी खुराक नहीं है, इसलिए मैंने दूध छोड़ दिया है।" मैंने कहा।

"तब तो बकरीका दूध लिया जा सकता है।" कस्तूरबाई जो मेरी खाटके पास ही खड़ी थी, बोल उठी।

"बकरीका दूध लो तो मेरा काम चल जायगा।" डाक्टर दलाल बीच हीमें बोल उठे।

मैं झुका। सत्याग्रहकी लड़ाईके मोहने मुझमें जीवनका लोभ पैदा किया और मैंने प्रतिज्ञा के अक्षरोंके पालनसे संतोष मानकर उसकी आत्माका हनन किया। दूध-घीकी प्रतिज्ञा लेते समय यद्यपि मेरी दृष्टिके सामने गाय-भैंसका ही विचार था, फिर भी मेरी प्रतिज्ञा दूध-मात्रके लिए समझी जानी चाहिए और जबतक मैं पशुके दूध-मात्रको मनुष्यकी खुराकके लिए निषिद्ध मानता हूं तबतक मुझे खानेमें उसके उपयोग करनेका अधिकार नहीं है। यह जानते हुए भी बकरीका दूध लेनेको मैं तैयार हो गया। सत्यके पुजारीने सत्याग्रहकी लड़ाईके लिए जीवित रहनेकी इच्छा रखकर अपने सत्यको कलंक लगाया।

मेरे इस कार्यका डंक अबतक नहीं मिटा है और बकरीका दूध छोड़नेके लिए सदा विचार करता रहा हूं। बकरीका दूध पीते वक्त रोज मैं कष्ट अनुभव करता हूं, परंतु सेवा करनेका महासूक्ष्म मोह जो मेरे पीछे लगा है, मुझे छोड़ता ही नहीं। अहिंसाकी दृष्टिसे खुराकके अपने प्रयोग मुझे बड़े प्रिय हैं। उनमें आनन्द आता है और यही मेरा विनोद भी है; परन्तु बकरीका दूध मुझे इस दृष्टिकोणके कारण नहीं अखरता, यह मुझे सत्यकी दृष्टिके कारण अखरता है। अहिंसाको जितना मैं पहचान सका

हूँ उसकी बनिस्बत मैं सत्यको अधिक पहचानता हूँ, ऐसा मेरा खयाल है। और यदि मैं सत्यको छोड़ दूं तो अहिंसाकी बड़ी उलझनें मैं कभी न सुलझा सकूंगा, ऐसा मेरा अनुभव है। सत्यका पालन है—लिये गए व्रतोंके शरीर और आत्माकी रक्षा—शब्दार्थ और भावार्थका पालन। यहांपर मैंने आत्माका—भावार्थ-का नाश सदा किया है। यह मुझे सदा ही अखरता है। यह जाननेपर भी व्रतके संबंधमें मेरा क्या धर्म है, यह मैं नहीं जान सका हूँ; अथवा यों कहो कि मुझमें उसका पालन करनेकी हिम्मत नहीं है। दोनों एक ही बात हैं; क्योंकि शंकाके मूलमें श्रद्धाका अभाव होता है। ईश्वर मुझे श्रद्धा दे !

बकरीका दूध शुरू करनेके थोड़े दिन बाद डा० दलालने गुदा-द्वारमें नश्तर लगाया, जिसमें उन्हें बड़ी कामयाबी हुई।

अभी यों मैं बीमारीसे उठनेकी आशा बाँध ही रहा था और अखबार पढ़ना शुरू किया ही था कि इतनेमें रौलट-कमेटीकी रिपोर्ट मेरे हाथ लगी। उसमें जो सिफारिशें की गईं थीं, उन्हें देखकर मैं चौंक उठा। भाई उमर और शंकरलालने कहा कि इसके लिए कुछ करना चाहिए। एकाध महीनेमें मैं अहमदाबाद गया। श्री वल्लभभाई मेरे स्वास्थ्यका हाल-चाल पूछनेको करीब-करीब रोज आते थे। मैंने इस बारे में उनसे बातचीत की और यह सूचित भी किया कि कुछ करना चाहिए। उन्होंने पूछा—"क्या किया जा सकता है?" जवाबमें मैंने कहा—"अगर कमेटीकी सिफारिशोंके अनुसार कानून बनाया जाय तो इसके लिए प्रतिज्ञा लेनेवाले थोड़े-से मनुष्योंके मिल जाने पर हमें सत्याग्रह करना चाहिए। अगर मैं बीमार न होता तो मैं अकेला ही लड़ता और यह आशा रखता कि पीछेसे और लोग भी इसमें आ मिलेंगे। अपनी इस लाचारीकी हालतमें अकेले लड़नेकी मुझमें बिलकुल शक्ति नहीं है।"

इस बातचीतके फलस्वरूप ऐसे लोगोंकी एक छोटी-सी सभा करनेका निश्चय हुआ, जो मेरे संपर्कमें ठीक-ठीक आये थे।

रौलट-कमेटीको मिली गवाहीसे मुझे यह तो स्पष्ट लगता था कि उसने जैसी सिफारिशें की हैं, वैसे कानूनकी जरूरत नहीं है और मेरे नजदीक यह बात भी उतनी स्पष्ट थी कि ऐसे कानूनको कोई भी स्वाभिमानी राष्ट्र या जनता स्वीकार नहीं कर सकती है।

सभा हुई। उसमें कोई लगभग बीस मनुष्योंको निमंत्रण दिया गया होगा। मुझे जहांतक स्मरण है, उसमें वल्लभभाईके अलावा श्रीमती सरोजनी नायडू, मि० हार्निमेन, स्व० उमर-सुभानी, श्री शंकरलाल बैंकर, श्रीमती अनसूयाबहन इत्यादि थीं।

प्रतिज्ञा-पत्र तैयार किया गया और मुझे ऐसा स्मरण है कि जितने लोग वहाँ मौजूद थे, सभीने उसपर दस्तखत किये। इस समय मैं कोई अखबार नहीं चलाता था, परन्तु समय-समयपर अखबारोंमें लिखता रहता था। इस समय भी मैंने अखबारोंमें लिखना शुरू किया और शंकरलाल बैंकरने अच्छी हलचल शुरू कर दी। उनकी काम करनेकी और संगठन करनेकी शक्तिका उस समय मुझे अच्छा अनुभव हुआ।

मुझे यह असंभव प्रतीत हुआ कि उस समय कोई भी मौजूदा संस्था सत्याग्रह जैसे शस्त्रको उठा सके, इसलिए सत्याग्रह-सभाकी स्थापना की गई। उसमें मुख्यतः बम्बईसे नाम मिले और उसका केन्द्र भी बम्बईमें ही रखा गया। प्रतिज्ञा-पत्रपर दस्तखत होने लगे और जैसा कि खेड़ाकी लड़ाईमें हुआ था, इसमें भी पत्रिकाएँ निकलीं और जगह-जगह सभाएँ हुईं।

इस सभाका अध्यक्ष मैं बना था। मैंने देखा कि शिक्षित-वर्ग और मेरे बीच अधिक मेल न हो सकेगा। सभामें गुजराती भाषाका ही उपयोग करनेका मेरा आग्रह और मेरी दूसरी कार्य-पद्धतिको देखकर वे विस्मित हुए, मगर मुझे यह स्वीकार करना चाहिए कि बहुतेरोंने मेरी कार्य-पद्धतिको निभा लेनेकी उदारता दिखाई, परन्तु आरम्भ हीमें मैंने यह देख लिया कि यह सभा दीर्घकाल तक नहीं चलेगी। फिर सत्य और अहिंसापर जो मैं जोर देता था, वह भी कुछ लोगोंको अप्रिय लगता था। फिर भी

शुरुआतमें तो यह काम बड़े जोरोंसे चल निकला।

६३

एक अद्भुत दृश्य

रौलट-कमेटीकी रिपोर्टके विरुद्ध एक ओर आंदोलन बढ़ता चला और दूसरी ओर सरकार उसकी सिफारिशोंको अमलमें लानेके लिए कमर कसती गई। रौलट-बिल प्रकाशित हुआ। मैं धारासभाकी बैठकमें एक ही बार गया हूं। रौलट-बिलकी चर्चा सुनने गया था। शास्त्रीजीने अपना बहुत ही जोरदार भाषण दिया और सरकारको चेतावनी दी। जब शास्त्रीजी की वाग्धारा चल रही थी, उस समय वाइसराय शास्त्रीजीकी ओर ताक रहे थे। मुझे तो ऐसा लगा कि शास्त्रीजीके भाषणका असर उनके मनपर पड़ा होगा। शास्त्रीजीमें जोश उमड़ा पड़ता था।

किन्तु सोये हुए को जगाया जा सकता है, जागता हुआ सोनेका ढोंग करे तो उसके कान में ढोल बजानेसे भी क्या होगा? धारासभामें बिलोंकी चर्चा करनेका प्रहसन करना ही चाहिए, इसलिए सरकारने वह प्रहसन खेला, किन्तु उसे जो काम करना था, उसका निश्चय तो हो ही चुका था, इसलिए शास्त्रीजीकी चेतावनी बेकार साबित हुई।

मेरी तूतीकी आवाज तो सुनता ही कौन ! मैंने वाइसराय से मिलकर खूब विनयकी, खानगी पत्र लिखे, खुली चिट्ठियां लिखीं। उनमें यह स्पष्ट बतलाया कि सत्याग्रहके सिवा, मेरे पास दूसरा रास्ता नहीं है, किन्तु सब बेकार गया।

अभी बिल गजटमें प्रकाशित नहीं हुआ था। मेरा शरीर निर्बल था, किन्तु मैंने लम्बे सफरकी जोखिम उठाई। मुझमें ऊंची आवाजसे बोलनेकी शक्ति अभी नहीं आई थी। खड़े होकर बोलनेकी शक्ति जो गई, सो अबतक नहीं आई है। खड़े होकर बोलते ही थोड़ी देरमें सारा शरीर कांपने लगता और छातीमें और पेटमें दर्द होने लगता था, किन्तु मुझे ऐसा लगा कि मद्राससे

आये हुए निमंत्रणको स्वीकार करना ही चाहिए; दक्षिण अफ्रीका-के संबंधके कारण मैं मानता आया हूं कि तमिल, तेलुगू आदि दक्षिण प्रान्तके लोगोंपर मेरा कुछ हक है और अबतक ऐसा नहीं लगा है कि मैंने इस मान्यतामें जरा भी भूल की है। आमंत्रण स्वर्गीय श्री कस्तूरीरंगा आयंगरकी ओरसे आया था। मद्रास जाते ही मुझे जान पड़ा कि इस आमंत्रणके पीछे श्री राजगोपाला-चार्य थे। श्री राजगोपालाचार्यके साथ मेरा यह पहला परिचय माना जा सकता है। इस बार सिर्फ इतना परिचय हुआ कि मैं उन्हें देखते ही पहचान सकूं।

सार्वजनिक काममें ज्यादा भाग लेनेके इरादे और श्री कस्तूरीरंगा आयंगर आदि मित्रों की इच्छासे वह सेलम छोड़कर मद्रासमें वकालत करनेवाले थे। मुझे उन्हींके यहां ठहरानेकी व्यवस्थाकी गई थी। मुझे तो दो दिन बाद मालूम हुआ कि मैं उन्हींके घर ठहरा हूं। वह बंगला श्री कस्तूरीरंगा आयंगरका होनेके कारण मैंने यही मान लिया था कि मैं उन्हींका अतिथि हूं। महादेव देसाईने मेरी भूल सुधारी। राजगोपालाचार्य दूर-ही-दूर रहते थे; किन्तु महादेवने उनसे भली-भांति परिचय कर लिया था। महादेवने मुझे चेताया, "आपको श्री राजगोपाला-चार्यसे परिचय कर लेना चाहिए।"

मैंने परिचय किया। उनके साथ रोज ही लड़ाईकी व्यवस्था करनेकी सलाह किया करता था। सभाओंके सिवा मुझे और कुछ सूझता ही नहीं था। रौलट-बिल अगर कानून बन जाय तो उसका सविनय-भंग कैसे हो। उसका सविनय-भंग करनेका अवसर तो तभी मिल सकता था, जब सरकार देती। दूसरे, जिन कानूनोंका सविनय-भंग हो सकता है, उनकी मर्यादा कहां निश्चित हो? ऐसी ही चर्चाएं होती थीं।

श्री कस्तूरीरंगा आयंगरने नेताओंकी एक छोटी-सी सभा भी की। उसमें भी खूब चर्चा हुई। उसमें श्री राघवाचार्य खूब हाथ बंटाते थे। उन्होंने यह सूचना दी कि बारीक-से-बारीक सूचनाएं

लिखकर मुझे सत्याग्रहका पत्र प्रकाशित करना चाहिए । मैंने कहा कि यह काम मेरी शक्तिके वाहर है।

यों सलाह-मशविरा हो रहा था। इसी बीच खबर आई कि विल कानूनके रूपमें गजटमें प्रकाशित हुआ है। जिस दिन यह खबर मिली, उस रातको मैं विचार करता हुआ सो गया। दूसरे दिन सुवह मैं वहुत सवेरे उठ खड़ा हुआ। अर्धनिद्रा होगी और मुझे स्वप्नमें विचार सूझा। सवेरे ही मैंने श्री राजगोपालाचार्य-को बुलाया और बात की—

"मुझे रातको स्वप्नमें विचार आया कि इस कानूनके जवाबमें हमें सारे देशको हड़ताल करनेके लिए कहना चाहिए। सत्याग्रह आत्म-शुद्धिकी लड़ाई है, धार्मिक लड़ाई है। धर्म-कार्य शुद्धिसे शुरू करना ठीक लगता है। एक दिन सभी कोई उपवास करें और काम-धंधा बंद रखें। मुसलमान भाई रोजेके अलावा और उपवास नहीं रखते, इसलिए चौवीस घंटेका उपवास रखनेकी सलाह देनी चाहिए। यह तो नहीं कहा जा सकता कि इसमें सभी प्रांत शामिल होंगे या नहीं। वम्वई, मद्रास, विहार और सिंधकी आशा तो मुझे है ही। इतनी जगहोंमें अगर ठीक हड़ताल हो तो हमें संतोष मानना चाहिए।"

यह सूचना श्री राजगोपालाचार्यको पसंद आई। पीछे तुरन्त दूसरे मित्रोंसे कहा। सबने इसे खुशीसे स्वीकार कर लिया। मैंने एक छोटा-सा नोटिस तैयार करके प्रकाशित किया। पहले सन् १९१९ मार्चकी ३० तारीख रखी गई थी; किन्तु वादमें ६ अप्रैल की गई। लोगोंको वहुत थोड़े दिनोंका नोटिस मिला। कार्य तुरंत करनेकी आवश्यकता थी, इसलिए लंबी मुद्दत देनेका समय न था।

पर कौन जाने कैसे सारा संगठन हो गया। सारे हिन्दुस्तान में—शहरोंमें और गांवोंमें—हड़ताल हुई। यह दृश्य भव्य था।

६४

वह सप्ताह !–१

दक्षिणमें थोड़ा भ्रमण करते हुए बहुत करके मैं चौथी अप्रैलको बम्बई पहुँचा। श्री शंकरलाल बैंकरका ऐसा तार था कि छठी तारीखका कार्यक्रम पूरा करनेके लिए मुझे बम्बईमें रहना चाहिए।

किन्तु उससे पहले दिल्लीमें तो ३० तारीखको ही हड़ताल मनाई जा चुकी थी। उन दिनों दिल्लीमें स्व० स्वामी श्रद्धानन्दजी तथा मरहूम हकीम अजमलखाँ साहबकी हुकूमत चलती थी। हड़ताल छठी तारीखके लिए स्थगित कर दी जानेकी खबर दिल्लीमें देरसे पहुँची थी। दिल्लीमें उस दिन जैसी हड़ताल हुई, वैसी पहले कभी न हुई थी। हिंदू और मुसलमान दोनों एकदिल हुए-से जान पड़े। श्रद्धानन्दजीको जुमा मस्जिदमें निमंत्रण दिया गया था और वहाँ उन्हें भाषण करने दिया गया था। ये सब बातें सरकारी अफसर सहन नहीं कर सकते थे। जुलूस स्टेशनकी ओर चला जा रहा था। उसे पुलिसने रोका। पुलिसने गोली चलाई। कितने ही आदमी जख्मी हुए और कई खून हुए। दिल्लीमें दमन-नीति शुरु हुई। श्रद्धानन्दजीने मुझे दिल्ली बुलाया। मैंने तार दिया कि बम्बई में छठी तारीख बिताकर मैं तुरन्त दिल्ली रवाना होऊँगा।

जैसा दिल्लीमें हुआ, वैसा ही लाहौर और अमृतसरमें भी हुआ था। अमृतसरसे डा० सत्यपाल और डा० किचलूके तार मुझे तुरंत ही बुला रहे थे। उस समय मैं इन दो भाइयोंको जरा भी नहीं पहचानता था। दिल्लीसे होकर अमृतसर जानेका निश्चय मैंने उन्हें बतलाया था।

छठीको सवेरे बम्बईमें हजारों आदमी चौपाटीमें स्नान करने गये और वहाँसे ठाकुरद्वार जानेके लिए जुलूस निकाला। उसमें स्त्रियाँ और बच्चे भी थे। जुलूसमें मुसलमान भी अच्छी तादादमें

शामिल हुए थे। इस जलूसमेंसे हमें मुसलमान भाई एक मस्जिदमें ले गये। वहाँ श्रीमती सरोजिनीदेवीसे तथा मुझसे भाषण कराये। यहाँ श्री विट्ठलदास जेराजनीने स्वदेशीकी तथा हिंदू-मुसलमान-ऐक्यकी प्रतिज्ञा लिवानेकी सूचनाकी । मैंने ऐसी उतावलीमें प्रतिज्ञा लिवानेसे इन्कार किया। जितना हो रहा था, उतनेसे ही संतोष माननेकी सलाह दी। प्रतिज्ञा लेनेके बाद वह टूट नहीं सकती। हमें स्वदेशीका अर्थ समझना चाहिए। हिन्दू-मुसलमान-ऐक्यकी जिम्मेदारी वगैरापर भी कहा और सुझाया कि जिन्हें प्रतिज्ञा लेनेका विचार हो, वे कल सवेरे भले ही चौपाटीके मैदानमें जावें।

बम्बईकी हड़ताल पूरी-पूरी रही।

यहाँ कानूनके सविनय-भंगकी तैयारी कर डाली थी। भंग हो सकने लायक दो-तीन वस्तुएँ थीं। ये कानून ऐसे थे, जो रद्द होने लायक थे और इनको कोई सहज ही भंग कर सकता था। इनमेंसे एकका ही उपयोग करनेका निश्चय हुआ था। नमकपर लगने-वाला कर बहुत ही अखरता था। उस करको उठवानेके लिए बहुत आदमी प्रयत्न कर रहे थे। इसीलिए एक सुझाव मैंने यह रखा कि सब कोई अपने घरमें बिना परवाने के नमक बनावें। दूसरा कानून सरकारकी जब्तकी हुई पुस्तकें बेचनेके संबंधमें था। ऐसी दो पुस्तकें मेरी ही थीं। वे थीं 'हिन्द-स्वराज्य' और 'सर्वोदय'। इन पुस्तकोंको छपाना और बेचना सबसे सहज सविनय-भंग जान पड़ा। इसलिए उन्हें छपाया और सांझका उपवास टूटनेपर और चौपाटीकी विराट सभा विर्सजित होनेके बाद इन्हें बेचनेका प्रबंध हुआ।

सांझको बहुत-से स्वयंसेवक ये पुस्तकें बेचनेको निकल पड़े। एक मोटरमें मैं निकला और एकमें श्रीमती सरोजिनी नायडू निकलीं। जितनी प्रतियां छपाई थीं, सब बिक गईं। इनकी जो कीमत वसूल हो, वह लड़ाईके खर्चमें ही डाली जानेवाली थी। एक प्रतिकी कीमत चार आने रखी गई थी; किन्तु मेरे या सरो-

जिनीदेवीके हाथमें शायद ही किसीने चार आने रखे हों। अपनी जेबमेंसे जो कुछ निकल जाय, सभी देकर पुस्तक लेनेवाले बहुत आदमी निकल पड़े। कोई दस रुपयेका तो कोई पाँच रुपयेका नोट भी देते थे। मुझे याद है कि एक प्रतिके लिए तो ५०) रुपयेका भी एक नोट मिला था। लोगोंको समझाया गया था कि लेने-वालोंको भी जेलकी जोखिम है; किन्तु घड़ी-भरके लिए लोगोंने जेलका भय छोड़ दिया।

सातवीं तारीखको मालूम हुआ कि जो किताबें बेचनेकी मनाही सरकारने की थी, सरकारकी दृष्टिसे वे बिकी हुई नहीं मानी जा सकतीं। जो बिकीं, वे तो उसकी दूसरी आवृत्ति गिनी जायँगी; जब्त की गई किताबोंमेंसे नहीं। इसलिए यह नई आवृत्ति छापने और खरीदनेमें कोई गुनाह नहीं माना जायगा। लोग यह खबर सुनकर निराश हुए।

इस दिन सवेरे चौपाटीपर लोगोंको स्वदेशी व्रत तथा हिंदू-मुस्लिम-ऐक्यके व्रतके लिए इकट्ठा होना था। विट्ठलदास जेराजनीको यह पहला अनुभव हुआ कि उजला रंग होनेसे ही सब-कुछ दूध नहीं हो जाता। लोग बहुत कम इकट्ठे हुए थे। इनमें दो-चार बहनोंका नाम मुझे याद आता है। पुरुष भी थोड़े थे। मैंने व्रत बना रखे थे। उनका अर्थ उपस्थित लोगोंको खूब समझाकर उनसे प्रतिज्ञा करवाई। थोड़ी हाजिरीसे मुझे आश्चर्य न हुआ, दुःख भी न हुआ, किन्तु धांधलीके काम और धीमे रचनात्मक कामके बीचका भेद और लोगोंमें पहलेका पक्षपात तथा दूसरेकी अरुचिका अनुभव मैं तबसे बराबर करता आया हूँ।

सातवीं तारीखकी रातको दिल्ली, अमृतसर जानेको निकला। आठवींको मथुरा पहुँचते ही कुछ भनक मिली कि शायद मुझे पकड़ेंगे। मथुराके बाद एक स्टेशनपर गाड़ी खड़ी थी। वहींपर मुझे आचार्य गिडवानी मिले। उन्होंने विश्वस्त खबर दी कि "आपको जरूर पकड़ेंगे और मेरी सेवाकी जरूरत हो तो मैं हाजिर हूँ।" मैंने उनका उपकार माना और कहा

कि जरूरत पड़नेपर सेवा लेना नहीं भूलूंगा।

पलवल स्टेशन आनेके पहले ही पुलिस-अफसरने मेरे हाथमें यह हुक्म रखा—"तुम्हारे पंजाबमें प्रवेश करनेसे अशांति बढ़नेका भय है, इसलिए तुम्हें हुक्म दिया जाता है कि पंजाबकी सीमा में दाखिल मत होओ।" पुलिसने हुक्म देकर मुझे उतर जानेको कहा। मैंने उतरनेसे इन्कार किया और कहा, "मैं अशांति बढ़ाने नहीं, किन्तु आमन्त्रण मिलनेसे अशांति घटानेके लिए जाना चाहता हूँ। इसलिए मुझे खेद है कि मैं इस हुक्मको नहीं मान सकता।"

महादेव देसाई मेरे साथ थे। उन्हें दिल्ली जाकर श्रद्धानन्दजीको खबर देने और लोगोंको शांत रहनेको कहनेके लिए कहा। हुक्मका अनादर करनेसे जो सजा हो उसे सहनेका मैंने निश्चय किया है तथा सजा होनेपर भी शांत रहनेमें ही हमारी जीत है, यह समझानेको भी कहा।

पलवल आया: स्टेशनपर मुझे उतारकर पुलिसके हवाले किया गया। दिल्लीसे आनेवाली किसी ट्रेनके तीसरे दर्जे के डिब्बेमें मुझे बैठाया। साथ पुलिसकी पार्टी बैठी। मथुरा पहुँचनेपर मुझे पुलिस बैरकमें ले गये। कोई अफसर यह न बता सका कि मेरा क्या होगा और मुझे कहाँ ले जाना है। सबेरे ४ बजे मुझे उठाया और एक बैलगाड़ीमें ले गये। दोपहरको सवाई माधोपुरमें उतार दिया। वहाँ बम्बई मेल ट्रेनमें लाहौरसे इंस्पेक्टर बोरिंग आये। उन्होंने मेरा कब्जा लिया और बम्बईमें ले जाकर छोड़ दिया।

मेरे घर पहुँचते ही उमर सुभानी और अनसूयाबहन मोटरसे आये और मुझे पायधुनी चलनेको कहा—"लोग अधीर हो गए हैं और उत्तेजित हो रहे हैं। हममेंसे किसीके किये वे शांत नहीं रह सकते। आपको ही देखनेपर शांत होंगे।"

मैं मोटरमें बैठ गया। पायधुनी पहुँचते ही रास्तेमें बहुत बड़ी भीड़ दिखी। मुझे देखकर लोग हर्षोन्मत्त हो गए। अब जुलूस

बना। 'वंदेमातरम्,' 'अल्लाहो अकबर' की आवाजसे आसमान फटने लगा। पायधुनी पर घुड़सवारों को देखा। ऊपरसे ईंटोंकी वर्षा होती थी। मैं लोगोंको शांत होनेके लिए हाथ जोड़कर प्रार्थना करता था। ऐसा जान पड़ा कि हम भी ईंटोंकी इस वर्षासे न बच सकेंगे।

अब्दुलरहमान गलीमेंसे क्राफर्ड मार्केटकी ओर जाते हुए जलूसको रोकनेके लिए घुड़सवारों की एक टुकड़ी सामने आ खड़ी हुई। जलूसको फोर्टकी ओर जानेसे रोकनेके लिए वे महाप्रयत्न कर रहे थे। लोग समाते न थे। लोगोंने पुलिसकी लाइनको चीरकर आगे बढ़ना शुरू किया। हालत ऐसी न थी कि मेरी आवाज सुनाई पड़े। इसपर घुड़सवारोंकी टुकड़ीके अफसरने भीड़को तितर-बितर करनेका हुक्म दिया और इस टुकड़ीने भाले तानकर घोड़ोंको एकदम छोड़ दिया। मुझे भय हुआ कि उनमें से कोई भाला हममेंसे भी किसीका काम तमाम कर दे तो कोई आश्चर्य नहीं, किन्तु इस भय के लिए कोई आधार नहीं था। बगल-से होकर सभी भाले रेलगाड़ीकी चालसे चले जाते थे। लोगोंके झुंड टूट गए। भगदड़ मच गई, कोई दब गए, कोई घायल हुए। घुड़सवारोंके निकलनेके लिए रास्ता न था। लोगोंके आसपास हटनेकी जगह न थी। वे अगर पीछे भी फिरें तो उधर भी हजारों-की जबरदस्त भीड़ थी। सारा दृश्य भयंकर लगा। घुड़सवार और लोग दोनों ही उन्मत्त-जैसे लगे। घुड़सवार न कुछ देखते और न कुछ देख ही सकते थे। वे तो आँखें मूंदकर घोड़ोंको सरपट दौड़ा रहे थे। जितने क्षण इस हजारोंके झुंडको चीरनेमें लगे उतने क्षणतक मैंने देखा कि वे कुछ देख ही नहीं सकते थे।

लोगोंको यों बिखेरा और रोका। हमारी मोटरको आगे जाने दिया। मैंने कमिश्नरके दफ्तरके आगे मोटर रुकवाई और उनके पास पुलिसके व्यवहारके लिए फरियाद करने उतरा।

६५

वह सप्ताह !—२

मैं कमिश्नर ग्रिफिथके दफ्तर में गया। उनकी सीढ़ी के पास जाते ही देखा कि हथियारबंद सैनिक तैयार बैठे थे, मानो किसी लड़ाईके लिए ही न तैयार हो रहे हों। बरामदेमें भी हलचल मच रही थी। मैं खबर भेजकर दफ्तरमें घुसा तो कमिश्नरके पास मि० बोरिंगको बैठे हुए देखा।

मैंने जो कुछ देखा था उसका वर्णन कमिश्नरसे किया। उसने संक्षेपमें जवाब दिया—"जलूसको हम फोर्टकी ओर जाने देना नहीं चाहते थे। वह जलूस जाता तो हुल्लड़ हुए बिना नहीं रह सकता था। मैंने देखा कि लोग केवल कहनेसे लौटनेवाले नहीं थे, इसलिए हमला करनेके सिवा और रास्ता नहीं था।"

मैं बोला—"मगर उसका परिणाम तो आप जानते थे न? लोग घोड़ोंके नीचे जरूर ही कुचलते। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि घुड़सवारोंकी टुकड़ीको भेजनेकी ही जरूरत न थी।"

साहबने जवाब दिया—"इसका पता आपको नहीं चल सकता। लोगोंपर आपके शिक्षणका कैसा असर पड़ता है इसका आपके बजाय हम पुलिसवालोंको अधिक पता रहता है। हम अगर पहलेसे ही सख्त कार्रवाई न करें तो अधिक नुकसान हो सकता है। मैं आपसे कहता हूं कि लोग तो आपके कहनेमें रहनेवाले नहीं हैं। कानून-भंगकी बात वे झट समझेंगे, मगर शांतिकी बात समझना उनके बूतेके बाहर है। आपका हेतु अच्छा है मगर लोग आपका हेतु नही समझते। वे तो अपने ही स्वभावके अनुसार काम करेंगे।"

मैं बोला—"यही तो आपके और मेरे बीच मतभेद है। लोग स्वभावसे ही लड़ाके नही हैं, किन्तु शांतिप्रिय हैं।"

हम दलीलमें उतरे।

अंतमें साहब बोले, "खैर, अगर आपको विश्वास होजाय

कि लोगोंने आपको नहीं समझा तो आप क्या करेंगे ?"

मैंने जवाब दिया—"अगर मुझे ऐसा विश्वास होजाय तो यह लड़ाई मुल्तवी रखूंगा।"

"मुल्तवी रखनेके क्या मानी ? आपने तो मि० बोरिंगसे कहा है कि मैं छूटते ही तुरन्त पंजाब लौटना चाहता हूँ।"

"हाँ, मेरा इरादा तो दूसरी ही ट्रेन से लौटने का था, किन्तु यह आज तो नहीं हो सकता।"

"आप धीरज रखेंगे तो आपको अधिक बातें मालूम होंगी। क्या आपको कुछ पता है कि अभी अहमदाबादमें क्या चल रहा है ? अमृतसरमें क्या हुआ है ? लोग तो सभी जगह पागल-से हो गए हैं। मुझे भी पूरी खबर नहीं है। कितनी जगह तो तार भी टूटे हैं। मैं तो आपसे कहता हूँ कि इन सब दंगोंकी जिम्मेदारी आपके सिर है।"

मैं बोला—"मेरी जिम्मेदारी जहाँ होगी, वहाँ उसे मैं अपने सिर ओढ़े बिना न रहूँगा। अहमदाबादमें लोग अगर कुछ करें तो मुझे आश्चर्य और दुःख होगा। अमृतसरके बारेमें मैं कुछ नहीं जानता। वहाँ तो कभी नहीं गया हूँ,मुझे कोई जानता भी नहीं है, किन्तु मैं इतना जानता हूं कि पंजाबकी सरकारने मुझे वहाँ जानेसे रोका न होता तो मैं शांति बनाये रखनेमें बहुत हिस्सा ले सकता था। मुझे रोककर सरकारने लोगोंको उत्तेजित कर दिया है।"

इस तरह हमारी बातें चलीं। हमारे मतमें मेल मिलनेकी संभावना नहीं थी।

चौपाटीपर सभा करने और लोगोंको शांति-पालन करनेके लिए समझानेका अपना इरादा जाहिर करके मैंने उनसे छुट्टी ली।

चौपाटीपर सभा हुई। मैंने लोगोंको शांति और सत्याग्रह-की मर्यादाके बारेमें समझाया और कहा—"सत्याग्रह सच्चेका खेल है। लोग अगर शांति पालन न करें तो मुझसे सत्याग्रहकी

लड़ाई न लड़ी जायगी।"

अहमदाबादसे श्रीमती अनसूयाबहनको भी खबर मिल चुकी थी कि वहाँ हुल्लड़ हुआ है। किसीने अफवाह उड़ा दी थी कि वह भी पकड़ी गई हैं। इससे मजदूर पागल-से बन गए। उन्होंने हड़ताल की और हुल्लड़ भी किया। एक सिपाहीका खून भी हुआ।

मैं अहमदाबाद गया। नाड़ियादके पास रेलकी पटरी उखाड़ डालनेका भी प्रयत्न हुआ था। वीरमगाममें खून हुआ था। जब मैं अहमदाबाद पहुँचा तब तो वहाँ मार्शल-लॉ जारी था। लोग भयभीत हो रहे थे। लोगोंने जैसा किया वैसा भोगा और सो भी ब्याज सहित।

कमिश्नर मि० प्रटके पास मुझे ले जानेके लिए स्टेशनपर आदमी खड़ा था। मैं उनके पास गया। वह खूब गुस्सेमें थे। मैंने उन्हें शांतिसे उत्तर दिया। जो खून हुआ था उसके लिए अपना खेद प्रकट किया। मार्शल लॉकी अनावश्यकता भी बतलाई और जिन उपायोंसे फिरसे शान्ति स्थापित हो, उन्हें करनेकी अपनी तैयारी बतलाई। मैंने सार्वजनिक सभा करनेकी इजाजत माँगी और वह सभा आश्रमकी जमीनपर करनेकी अपनी इच्छा बतलाई। यह बात उन्हें पसंद आई। मुझे याद है कि इसके अनुसार तेरहवीं मईको रविवारके दिन सभा हुई थी। मार्शल-लॉ भी उसी दिन या उसके दूसरे दिन रद्द हुआ था। इस सभामें मैंने लोगोंको उनके दोष बतानेका प्रयत्न किया। मैंने प्रायश्चित्तके रूपमें तीन दिनका उपवास भी किया और लोगोंको एक दिनका उपवास करनेकी सलाह दी। जो खून वगैरा में शामिल हुए हों, उन्हें अपना गुनाह कबूल कर लेनेकी भी सलाह दी।

अपना धर्म मैंने स्पष्ट देखा। जिन मजदूरों वगैराके बीच मैंने इतना समय बिताया था, जिनकी मैंने सेवा की और जिनसे मैं भलेकी ही आशा रखता था, उनका हुल्लड़में शामिल होना मुझे असह्य लगा और मैंने अपने-आपको उनके दोषमें हिस्सेदार

माना। सत्याग्रह तुरन्त ही मुल्तवी रखनेका निश्चय मैंने प्रकट किया।

६६

'हिमालय-जैसी भूल'

अहमदाबादकी सभाके बाद मैं नाड़ियाद गया। 'हिमालय-जैसी भूल' के नामका जो शब्द-प्रयोग प्रचलित हुआ है उसका प्रयोग मैंने पहले-पहल नाड़ियादमें किया था। अहमदाबादमें ही मुझे अपनी भूल जान पड़ने लगी थी; किंतु नाड़ियादमें वहांकी स्थितिका विचार करते हुए, खेड़ा जिलेके बहुत-से आदमियोंके गिरफ्तार होनेकी बात सुनते हुए, जिस सभामें मैं इन घटनाओं-पर भाषण कर रहा था, वहींपर मुझे एकाएक खयाल हुआ कि खेड़ा जिलेके तथा ऐसे ही दूसरे लोगोंको सविनय भंग करनेके लिए निमंत्रण देनेमें उतावली करनेकी मैंने भूल की थी और वह भूल मुझे हिमालय-जैसी जान पड़ी।

मैंने इसे स्वीकार किया। इसलिए मेरी खूब हंसी उड़ी थी। तो भी मुझे यह स्वीकार करनेके लिए पश्चात्ताप नहीं हुआ है। मैंने यह हमेशा माना है कि जब हम दूसरेके गज-बराबर दोषको रज-समान देखेंगे और अपने राई-जैसे जान पड़नेवाले दोष को पर्वत-जैसा देखना सीखेंगे, तभी हमें अपने और दूसरेके दोषोंका ठीक-ठीक परिणाम मिल सकेगा। मैंने यह भी माना है कि सत्याग्रही बननेके इच्छुकको तो इस सामान्य नियमका पालन बहुत ही सूक्ष्मतासे करना चाहिए।

अब यह देखें कि यह हिमालय-जैसी दिखाई पड़नेवाली भूल थी क्या? कानूनका सविनय भंग उन्हीं लोगोंसे हो सकता है जिन्होंने कानूनको विनयपूर्वक स्वेच्छासे मान लिया हो, उसका पालन किया हो। बहुतांशमें हम कानूनके भंग होनेवाली सजाके डरसे उसका पालन करते हैं। इसके अलावा यह बात विशेषकर उन कानूनोंपर लागू होती है जिनमें नीति-अनीति-

का सवाल नहीं होता। कानून हो या न हो, सज्जन माने जानेवाले लोग एकाएक चोरी नहीं करेंगे, मगर तो भी रातमें बाइसिकलकी बत्ती जलानेके नियमोंसे भटक जानेमें भले आदमीको भी क्षोभ नहीं होता। और ऐसे नियम पालनेकी कोई सलाह भी दे तो भलेमानस उसका पालन करनेको झट तैयार नहीं होते, किन्तु जब यह कानून बन जाता है, उसका भंग करनेसे जुर्मानेका डर लगता है, तब जुर्माना देनेसे बचनेके लिए ही वह बत्ती जलावेगा, यह नियमका पालन नहीं गिना जायगा।

किंतु सत्याग्रही तो समाजके कानूनोंका पालन समझ-बूझकर स्वेच्छासे और धर्म समझकर करेगा। इस प्रकार जिसने समाज-के नियमोंका जान-बूझकर पालन किया है उसीमें समाजके नियमोंकी नीति-अनीतिको भंग करनेकी शक्ति आती है और उसे मर्यादित परिस्थितिमें अमुक नियमोंके भंग करनेका अधि-कार प्राप्त होता है। ऐसा अधिकार प्राप्त करनेके पहले हीसविनय-भंगके लिए न्यौता देनेकी भूल मुझको हिमालय-जैसी लगी और खेड़ा जिलेमें प्रवेश करते ही मुझे वहांकी लड़ाई याद हो आई। मुझे जान पड़ा कि मैंने सामनेकी दीवारको देखे बिना ही, आंख मूंदकर, सरपट दौड़ लगाई। मुझे ऐसा लगा कि उसके पहले कि लोग सविनय-भंग करनेके लायक बनें, उन्हें उसके गंभीर रहस्य-का भान होना चाहिए। जिन्होंने रोज ही इच्छा से कानूनको तोड़ा हो, जो छिपकर अनेक बार कानूनका भंग करते हों, वे भला एकाएक कैसे सविनय-भंगको पहचान सकते हैं। उसकी मर्यादा-का पालन कैसे कर सकते हैं ?

यह बात सहज ही समझमें आ सकती है कि इस आदर्शका पालन हजारों-लाखों आदमी नहीं कर सकते; किंतु बात अगर ऐसी ही हो तो सविनय-भंग करानेके पहले लोगोंको समझाने वाले और प्रतिक्षण उन्हें रास्ता बतलानेवाले शुद्ध स्वयंसेवकोंका दल खड़ा होना चाहिए और ऐसे दलको सविनय-भंग और उसकी मर्यादाकी पूरी-पूरी समझ होनी चाहिए।

ऐसे विचारोंसे भरा हुआ मैं बम्बई पहुंचा और सत्याग्रह-सभाके द्वारा मैंने सत्याग्रही स्वयंसेवकोंका दल खड़ा किया। उनके जरिये लोगोंको सविनय कानून-भंगकी तालीम देनी शुरू की और सत्याग्रहका रहस्य बतलानेवाली पत्रिकाएं निकालीं।

यह काम चला तो सही, मगर मैंने देखा कि मैं इसमें लोगोंकी बहुत दिलचस्पी पैदा न कर सका। स्वयंसेवक काफी नहीं मिले। यह नहीं कहा जा सकता कि जो भर्ती हुए उन सभीने तालीम भी पूरी ली। भर्तीमें नाम लिखानेवाले भी जैसे-जैसे दिन बीतने लगे वैसे-वैसे दृढ़ होनेके बदले खिसकने लगे। मैंने समझा कि सविनय-भंगकी गाड़ीके जिस चालसे चलनेकी मैं आशा रखता था वह उससे कहीं धीमी चलेगी।

६७
पंजाबमें

पंजाबमें जो कुछ हुआ, उसके लिए सर माइकेल ओड्वायरने मुझे गुनहगार ठहराया था। उधर वहांके कई नौजवान फौजी कानूनके लिए भी मुझे गुनहगार ठहरानेमें हिचकते न थे। क्रोधके आवेशमें वे यह दलील देते थे कि यदि मैंने सविनय कानून-भंग मुल्तवी न किया होता तो जलियांवाला बागमें यह कत्ल न हुआ होता और न फौजी कानून ही जारी हो पाता। कुछ लोगोंने तो धमकियां भी दी थीं कि अब आपने पंजाब में पैर रखा तो आपका खून कर डाला जायगा।

पर मैं तो मान रहा था कि मैंने जो कुछ किया है वह इतना उचित और ठीक था कि उसमें समझदार आदमियोंको गलत-फहमी होनेकी संभावना ही न थी। मैं पंजाब जानेके लिए अधीर हो रहा था। इससे पहले मैंने पंजाब नहीं देखा था; पर अपनी आंखोंसे जो कुछ देख सकूं, देखनेकी तीव्र इच्छा थी और मुझे बुलानेवाले डा० सत्यपाल, डा० किचलू, पं० रामभजदत्त चौधरी आदिसे मिलनेकी अभिलाषा हो रही थी। वे थे तो जेलमें, पर

मुझे पूरा विश्वास था कि उन्हें सरकार अधिक दिनों तक जेलमें नहीं रख सकेगी। जब-जब मैं बम्बई जाता तब-तब कितने ही पंजाबी मिलने आजाते थे। उन्हें मैं प्रोत्साहन देता और वे प्रसन्न होकर जाते। उस समय मेरा आत्म-विश्वास बहुत था।

पर मेरे पंजाब जानेका दिन दूर-ही-दूर होता जाता था। वाइसराय भी यह कहकर उसे दूर ढकेलते जाते थे कि अभी समय नहीं है।

इस बीच हंटर-कमेटी आई। वह फौजी कानूनकी जाँच करनेके लिए नियुक्त हुई थी। दीनबंधु एंड्रयूज वहाँ पहुंच गए थे। उनकी चिट्ठियोंमें वहांका हृदय-द्रावक वर्णन होता था। उनके पत्रोंसे यह ध्वनि निकलती थी कि अखबारोंमें जो कुछ बातें प्रकाशित हो चुकी हैं उससे भी अधिक जुल्म फौजी कानूनका था। वह भी पंजाब आनेका आग्रह कर रहे थे। दूसरी ओर मालवीयजी आदिके तार आ रहे थे कि आपको पंजाब अवश्य पहुंच जाना चाहिए। तब मैंने फिर वाइसरायको तार दिया। उनका जवाब आया कि फलां तारीखको आप जा सकते हैं। अब तारीख ठीक-ठीक याद नहीं पड़ती, पर बहुत करके वह १७ अक्तूबर थी।

लाहौर पहुँचनेपर मैंने जो दृश्य देखा वह भुलाया नहीं जा सकता। स्टेशनपर मुझे लिवानेके लिए ऐसी भीड़ इकट्ठी हुई थी मानो किसी बहुत दिनके बिछुड़े प्रिय-जनसे मिलनेके लिए उसके सगे-संबंधी आये हों। लोग हर्षसे पागल हो रहे थे। पंडित रामभजदत्त चौधरीके यहाँ मैं ठहराया गया था। श्रीमती सरला-देवी चौधरीसे मेरा पहलेका परिचय था। मेरे आतिथ्यका भार उनपर आ पड़ा था। 'आतिथ्यका भार' शब्दका प्रयोग मैं जान-बूझकर कर रहा हूं, क्योंकि आजकी तरह तब भी मैं जहाँ ठहरता वह घर एक धर्मशाला ही हो जाता था।

पंजाबमें मैंने देखा कि वहांके पंजाबी नेताओंके जेलमें होनेके कारण पंडित मालवीयजी, पंडित मोतीलाल और स्वर्गीय

स्वामी श्रद्धानंदजीने उनका स्थान ग्रहण कर लिया था। मालवीयजी और श्रद्धानंदजीके संपर्कमें तो मैं अच्छी तरह आ चुका था, पर पंडित मोतीलालजीके निकट संपर्कमें तो मैं लाहौर हीमें आया। इन तथा दूसरे स्थानीय नेताओंने, जिन्हें जेलमें जानेका गौरव प्राप्त नहीं हुआ था, तुरंत मुझे अपना बना लिया। कहीं भी मुझे यह न मालूम हुआ कि मैं कोई अजनबी हूं।

हम सब लोगोंने एकमत होकर हंटर-कमेटीके सामने गवाही न देनेका निश्चय किया। इसके कारण उसी समय प्रकट कर दिये गए थे। अतएव यहां इनका उल्लेख छोड़ देता हूं। वे कारण सीधे ही थे और आज भी मेरा यही मत है कि कमेटीका बहिष्कार जो हमने किया वह उचित ही था।

पर यदि हंटर-कमेटीका बहिष्कार किया जाय तो फिर लोगोंकी तरफसे अर्थात् कांग्रेसकी ओरसे कोई जांच-कमेटी नियुक्त होनी चाहिए, इस निर्णयपर हम लोग पहुंचे। पंडित मोतीलाल नेहरू, स्व० चित्तरंजनदास, श्री अब्बासतैयबजी, श्री जयकर और मैं, इतने सदस्य नियुक्त हुए। हम जांचके लिए अलग-अलग स्थानोंमें बंट गए। इस कमेटीकी व्यवस्थाका बोझ सहज ही मुझपर आ पड़ा था और मेरे हिस्सेमें अधिक-से-अधिक गांवोंकी जांचका काम आ जानेके कारण मुझे पंजाबको और पंजाबके देहातको देखनेका अलभ्य लाभ मिला।

इन जांचके दिनोंमें पंजाबकी स्त्रियां तो मुझे ऐसी मालूम हुई, मानो मैं उन्हें युगोंसे पहचानता होऊं। मैं जहां जाता वहां झुंड-की-झुंड स्त्रियां आ जातीं और अपने कते सूतका ढेर मेरे सामने रख देतीं। इस जांचके साथ ही मैं अनायास इस बातको भी देख सका कि पंजाब खादीका एक महान क्षेत्र हो सकता है।

ज्यों-ज्यों मैं लोगोंपर हुए जुल्मोंकी जांच अधिकाधिक गहराईसे करने लगा त्यों-त्यों मेरे अनुमानसे परे सरकारी अराजकता, हाकिमोंकी नादिरशाही और उनकी मनमानी अंधाधुंधीकी बातें सुन-सुनकर आश्चर्य और दुःख हुआ करता।

वह पंजाब कि जहांसे सरकारको ज्यादा-से-ज्यादा सैनिक मिलते हैं, वहां लोग क्यों इतना बड़ा जुल्म सहन कर सके, इस बातसे मुझे विस्मय हुआ और आज भी होता है।

इस कमेटीकी रिपोर्ट तैयार करनेका काम मेरे सुपुर्द किया गया था। जो यह जानना चाहते हैं कि पंजाबमें कैसे-कैसे अत्याचार हुए, उन्हें यह रिपोर्ट अवश्य पढ़नी चाहिए। इस रिपोर्टके बारेमें मैं तो इतना ही कह सकता हूं कि इसमें जान-बूझकर कहीं भी अत्युक्तिसे काम नहीं लिया गया है। जितनी बातें लिखी गई हैं, सबके लिए रिपोर्टमें प्रमाण मौजूद हैं। रिपोर्टमें जो प्रमाण पेश किए गए हैं उनसे बहुत अधिक प्रमाण कमेटीके पास थे। ऐसी एक भी बात रिपोर्टमें दर्ज नहीं की है, जिसके बारेमें थोड़ा भी शक था। इस प्रकार बिलकुल सत्यको ही सामने रखकर लिखी गई रिपोर्टमें पाठक देख सकेंगे कि ब्रिटिश राज अपनी सत्ता कायम रखनेके लिए किस हदतक जा सकता है और कैसे अमानुषिक कार्य कर सकता है। जहांतक मुझे पता है, इस रिपोर्टकी एक भी बात आजतक असत्य साबित नहीं हुई है।

६८
कांग्रेसमें प्रवेश

कांग्रेसमें जो मुझे भाग लेना पड़ा है, इसे मैं कांग्रेसमें अपना प्रवेश नहीं मानता। इसके पहलेकी कांग्रेसकी बैठकोंमें जो मैं गया सो तो केवल वफादारीकी निशानीके तौरपर। छोटे-से-छोटे सिपाहीके सिवा वहां मेरा दूसरा कुछ काम होगा, ऐसा आभास भी मुझे दूसरी पिछली सभाओंके संबंधमें नहीं हुआ और न ऐसी इच्छा ही हुई।

अमृतसरके अनुभवने बताया कि मेरी एक शक्तिका उपयोग कांग्रेस के लिए है। पंजाब-समितिके मेरे कामसे लोकमान्य, मालवीयजी, मोतीलालजी, देशबंधु इत्यादि खुश हुए थे, यह मैं देख सका था। इस कारण उन्होंने मुझे अपनी बैठकों और

सलाह-मशविरेमें बुलाया। इतना तो मैंने देखा था कि विषय-समितिका असली काम ऐसी बैठकोंमें होता था और ऐसे मशविरोंमें खासकर वे लोग होते, जिनपर नेताओं का खास विश्वास या आधार होता, पर दूसरे लोग भी किसी-न-किसी बहाने घुस जाते थे।

आगामी वर्षमें किये जानेवाले दो कामोंमें मेरी दिलचस्पी थी, क्योंकि उसमें मेरा चंचुपात हो चुका था।

एक था जलियाँवाला बागके कत्लका स्मारक। इसके लिए कांग्रेसने बड़ी धूमके साथ प्रस्ताव पास किया था। उसके लिए कोई पाँच लाख रुपयेकी रकम एकत्र करनी थी। उसके ट्रस्टियोंमें मेरा भी नाम था। देशके सार्वजनिक कार्योंके लिए भिक्षा माँगने-की भारी सामर्थ्य जिन लोगोंमें है उनमें मालवीयजीका नम्बर पहला था और है। मैं जानता था कि मेरा दरजा उनसे बहुत घटकर न होगा। अपनी इस शक्तिका आभास मुझे दक्षिण अफ्रीकामें मिला था। राजा-महाराजाओं पर जादू फेरकर लाखों रुपये पानेका सामर्थ्य मुझमें न था। आज भी नहीं है। इस बातमें मालवीयजीके साथ प्रतिस्पर्धा करनेवाला मैंने किसी-को नहीं देखा, पर जलियाँवाला बागके काममें उन लोगोंसे द्रव्य नहीं लिया जा सकता, यह मैं जानता था। अतएव इस स्मारकके लिए धन जुटानेका भार मुझपर पड़ेगा, यह बात मैं ट्रस्टी का पद स्वीकार करते समय समझ गया था। और हुआ भी ऐसा ही। इसी स्मारकके लिए बम्बईके उदार नागरिकोंने पेट-भरकर द्रव्य दिया और आज भी लोगोंके पास उनके लिए जितना चाहिए द्रव्य है; परन्तु इस हिंदू, मुसलमान और सिखोंके मिश्रित खूनसे पवित्र हुई भूमि पर किस तरहका स्मारक बनाया जाय, यह विकट प्रश्न हो गया है, क्योंकि तीनोंके बीच दोस्तीके बदले आज दुश्मनीका आभास हो रहा है।

मेरी दूसरी शक्ति मंत्रीका काम करनेकी थी, जिसका उपयोग कांग्रेसके लिए हो सकता था। बहुत दिनोंके अनुभवसे कहाँ, कैसे

और कितने कम शब्दोंमें अविनय-रहित भाषामें लिखना मैं जान सका हूँ—यह बात नेता लोग समझ गए थे। उस समय कांग्रेसका जो विधान था, वह गोखलेकी रखी हुई पूंजी थी। उन्होंने कितने ही नियम बना रखे थे, उनके आधारपर कांग्रेसका काम चलता था। वे नियम किस प्रकार बने, इसका मधुर इतिहास मैंने उन्हींके मुखसे सुना था, पर अब सब मानते थे कि केवल उन्हीं नियमोंके बलपर काम नहीं चल सकता। विधान बनानेकी चर्चा भी प्रतिवर्ष चला करती। कांग्रेसके पास ऐसी व्यवस्था ही नहीं थी कि जिससे वर्ष-भर उसका काम चलता रहे अथवा कोई भविष्य-के विषयमें विचार करे। मंत्री उसके तीन रहते, पर वास्तव-में तो मंत्री एक ही रहता। वह भी ऐसा नहीं कि चौबीसों घंटे उसके लिए दे सके। मंत्री दफ्तरका काम करता या भविष्यका विचार करता, या भूत-कालमें ली हुई जिम्मेदारियाँ चालू वर्षमें पूरी करता। इसलिए यह प्रश्न इस वर्ष सबकी दृष्टिमें अधिक आवश्यक हो गया। कांग्रेसमें तो हजारोंकी भीड़ होती है, उसमें प्रजाका कार्य कैसे चलता ? प्रतिनिधियोंकी संख्याकी हद नहीं थी। हर किसी प्रांतसे चाहे जितने प्रतिनिधि आ सकते थे। हर कोई प्रतिनिधि हो सकता था, इसलिए इसका कुछ प्रबंध होनेकी आवश्यकता सबको मालूम हुई। कांग्रेसका नया विधान बनानेका भार मैंने अपने सिरपर लिया। पर मेरी एक शर्त थी। जनतापर मैं दो नेताओंका अधिकार देख रहा था। इसलिए मैंने उनके प्रतिनिधियोंकी माँग अपने साथ की। मैं जानता था कि नेता लोग खुद शांतिके साथ बैठकर विधानकी रचना नहीं कर सकते थे। अतएव लोकमान्य तथा देशबन्धुके पाससे उनके दो विश्वासपात्र नाम मैंने माँगे। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई विधान-समितिमें न होना चाहिए, यह मैंने सुझाया। यह सूचना स्वीकृत हुई। लोकमान्यने श्री केलकरका और देशबंधुने श्री आई० बी० सेनका नाम दिया। यह विधान-समिति एक दिन भी साथ मिलकर न बैठी। फिर भी हमने अपना काम चला लिया। इस विधानके

संबंधमें मुझे कुछ अभिमान है। मैं मानता हूं कि इसके अनुसार काम लिया जा सके तो आज हमारा बेड़ा पार हो सकता है। यह तो जब कभी हो, परन्तु यह जवाबदेही लेनेके बाद ही मैंने कांग्रेसमें सचमुच प्रवेश किया, ऐसी मेरी मान्यता है।

हाथ-करघेके कपड़ेका तो मैं १९०८ से हिमायती था, परन्तु चर्खा मुझे हाथ नहीं लगा था। १९१५ में आश्रम-स्थापनाके बाद हाथ-कते सूतका विचार होने लगा, क्योंकि मैंने देखा कि मिलके कते हुए सूतके कपड़ेका उपयोग हमको सूत कातनेवाले मिलका बिना तनख्वाह एजेंट बना रहा है। इस बंधनसे मुक्ति तब ही मिल सकती है जबकि हम अपने पुराने चर्खेका पुनरुद्धार कर सकें। इस पुनरुद्धारके काममें मैं लग गया। स्व० गंगाबहन मजूमदारने, जिनसे मेरा परिचय भड़ोंचमें हुआ था, चर्खेकी खोजमें घूमनेकी प्रतिज्ञा की—जिस तरह दमयंती नलकी खोजमें घूमी थी। खूब खोज करनेके बाद गंगाबहनको गायकवाड़के बीजापुर गांवमें चर्खा मिल गया। इसके बाद मैंने गंगाबहनको सुझाया कि वह पूनिया बनानेवालेको ढूंढ़े। उन्होंने यह काम अपने सिर लिया, धुनिया को ढूंढ़ निकाला। उसे हर महीने पैंतीस रुपये या इससे भी अधिक वेतन पर नियुक्त किया। उसने बालकोंको पूनी बनाना सिखलाया। मैंने रुईकी भीख मांगी।

अब आश्रममें भी चर्खे दाखिल करनेमें देर न लगी। मगनलाल गांधीने अपनी अन्वेषण-शक्तिसे चर्खेमें सुधार किये और चर्खे तथा तकुवे आश्रममें तैयार हुए। आश्रमकी खादीके पहले थानपर फी गज १~) खर्च आया। मैंने मित्रोंके पाससे मोटी कच्चे सूतकी खादीके एक गज टुकड़ेके १~) वसूल किये, जो उन्होंने खुशी-खुशी दिये।

अब मैं एकदम खादीमय होनेके लिए अधीर हो उठा। मेरी धोती देशी मिलके कपड़ेकी थी। बीजापुरमें और आश्रममें जो खादी बनती थी वह बहुत मोटी और ३० इंच अर्जकी होती

थी। मैंने गंगाबहनको चेताया कि अगर वह ४५ इंच अर्जकी धोती एक महीनेके भीतर न दे सकेंगी तो मुझे मोटी खादीका टुकड़ा पहनकर काम चलाना पड़ेगा। गंगाबहन घबराईं, उन्हें अवधि कम मालूम हुई; लेकिन हिम्मत नहीं हारीं। उन्होंने एक महीनेके भीतर ही मुझे ५० इंच अर्जका धोती-जोड़ा ला दिया और मेरी दरिद्रता दूर की।

इसी बीच भाई लक्ष्मीदास लाठी गाँवसे एक अन्य भाई रामजी और उनकी पत्नी गंगाबहन को आश्रममें लाये और उनके द्वारा लम्बे अर्जकी खादी बुनवाई। खादीके प्रचारमें इस दम्पत्तिका हिस्सा ऐसा-वैसा नहीं कहा जा सकता। इन्होंने गुजरातमें और गुजरातके बाहर हाथके सूतको बुननेकी कला दूसरोंको सिखाई है। यह निरक्षर लेकिन सुसंस्कृत बहन जब करघा चलाने बैठती तो उसमें तल्लीन हो जाती और इधर-उधर देखनेकी या किसीके साथ बात करनेकी आवश्यकता तक अपने लिए महसूस नहीं करती थी।

६९
एक संवाद

जिस समय स्वदेशीके नामपर यह प्रवृत्ति शुरू हुई उस समय मिल-मालिकोंकी ओरसे मेरी खूब टीका होने लगी। भाई उमर-सुभानी स्वयं होशियार और सावधान मिल-मालिक थे, इसलिए वह अपने ज्ञानसे तो मुझे फायदा पहुंचाते ही थे; लेकिन साथ ही वह दूसरोंके मत भी मुझे सुनाते थे। उनमेंसे एक मिल-मालिककी दलीलोंका असर भाई उमर सुभानीपर भी पड़ा और उन्होंने मुझे उनके पास ले चलनेकी बात कही। मैंने उनकी इस बातका स्वागत किया और हम उन मिल-मालिकके पास गये। वह कहने लगे—

"तो आप जानते हैं न कि आपका स्वदेशी-आन्दोलन कोई पहला आन्दोलन नहीं है?"

मैंने जवाब दिया—"जी हाँ।"

"आप यह भी जानते हैं कि बंग-भंगके दिनोंमें स्वदेशी आन्दोलनने खूब जोर पकड़ा था। इस आन्दोलनसे हमारी मिलोंने खूब लाभ उठाया था और कपड़ेकी कीमत बढ़ा दी थी। जो काम नहीं करना चाहिए, वह भी किया था?"

"मैंने यह सब सुना है और सुनकर दुखी हुआ हूँ।"

"मैं आपके दुःखको समझता हूं, लेकिन उसका कोई कारण नहीं है। हम परोपकारके लिए अपना व्यापार नहीं करते हैं। हमें तो नफा कमाना है। अपने मिलके हिस्सेदारों (शेयर-होल्डरों) को जवाब देना है। कीमतका आधार तो किसी चीजकी माँग है। इस नियमके खिलाफ कोई क्या कह सकता है? बंगालियोंको यह अवश्य ही जान लेना चाहिए था कि उनके आन्दोलनसे स्वदेशी कपड़ेकी कीमत जरूर ही बढ़ेगी।"

"वे तो बेचारे मेरे समान शीघ्र ही विश्वास कर लेनेवाले ठहरे, इसलिए उन्होंने यह मान लिया था कि मिल-मालिक एकदम स्वार्थी नहीं बन जायंगे, दगा तो कभी देंगे ही नहीं और न कभी स्वदेशीके नामपर विदेशी वस्त्र ही बेचेंगे।"

"मुझे यह मालूम था कि आप इस तरह का विश्वास रखते हैं। यही कारण था कि मैंने आपको सावधान कर देनेका विचार किया और यहांतक आनेका कष्ट दिया जिससे भोले-भाले बंगालियोंकी भांति आप भी भूलमें न रह जायँ।"

इतना कह चुकनेपर सेठने अपने एक गुमाश्तेको नमूने लानेके लिए इशारा किया। नमूने रद्दी सूतके बने हुए कंबलके थे। उन्हें लेकर उन्होंने कहा—

"देखिए, यह नया माल हमने तैयार किया है। इसकी बाजारमें अच्छी खपत है। रद्दीसे बना है, इस कारण सस्ता तो पड़ता ही है। इस मालको हम ठेठ उत्तर तक पहुँचाते हैं। हमारे एजेंट चारों ओर फैले हुए हैं। इससे आप यह तो समझ सकते हैं कि हमें आप-सरीखे एजेंटोंकी जरूरत नहीं रहती। सच बात तो

यह है कि जहां आप-जैसे लोगोंकी आवाज तक नहीं पहुंचती वहां हमारे एजेंट और हमारा माल पहुँच जाता है। हां, आपको यह भी जान लेना चाहिए कि भारतको जितने मालकी जरूरत रहती है उतना तो हम बनाते भी नहीं। इसलिए स्वदेशीका सवाल तो खासकर उत्पत्तिका सवाल है। जब हम आवश्यक परिमाणमें कपड़ा तैयार कर सकेंगे और जब उसकी किस्ममें सुधार कर सकेंगे, तब परदेशी कपड़ा अपने-आप आना बन्द हो जायगा। इसलिए मेरी तो यह सलाह है कि आप जिस ढंगसे स्वदेशी-आन्दोलनका काम कर रहे हैं उस ढंगसे मत कीजिए और नई मिलें खड़ी करनेकी तरफ अपना ध्यान लगाइये। हमारे यहां स्वदेशी मालको खपानेका आन्दोलन आवश्यक नहीं है, आवश्यकता तो स्वदेशी माल उत्पन्न करनेकी है।"

"अगर मैं यही काम करता होऊं तो आप मुझे आशीर्वाद देंगे न !" मैंने कहा।

"यह कैसे ! अगर आप मिल खड़ी करनेकी कोशिश करते हों तो आप धन्यवादके पात्र हैं।"

"मैं यह तो नहीं करता हूं। हां, चर्खेके उद्धार-कार्यमें अवश्य लगा हुआ हूं।"

"यह कौन-सा काम है !"

मैंने चर्खेकी वात सुनाई और कहा—

"मैं आपके विचारोंसे सहमत होता जा रहा हूं। मुझे मिलोंकी एजेंसी नहीं लेनी चाहिए। उससे तो लाभके बदले हानि ही है। मिलोंका माल यों ही पड़ा नहीं रहता। मुझे तो कपड़ा उत्पन्न करनेमें और तैयार कपड़ेको खपानेमें लगना चाहिए। अभी तो मैं केवल उत्पत्तिके काममें ही लगा हूं। मैं स्वदेशीमें विश्वास रखता हूं, क्योंकि उसके द्वारा भारतकी भूखों मरनेवाली आधी बेकार स्त्रियोंको काम दिया जा सकता है। वे जो सूत कातें उसे बुनवाना और इस तरह तैयार खादी लोगोंको पहनाना ही मेरी प्रवृत्ति है और यही मेरा आंदोलन है। चर्खा-आंदोलन कितना

सफल होगा, यह तो मैं नहीं कह सकता। अभी तो उसका श्रीगणेश-मात्र हुआ है, लेकिन मुझे उसमें पूरा विश्वास है। चाहे जो हो, यह तो निर्विवाद है कि इस आंदोलनसे कोई हानि नहीं होगी। इस आन्दोलनके कारण हिन्दुस्तानमें तैयार होनेवाले कपड़ेमें जितनी वृद्धि होगी उतना ही लाभ होगा। इसलिए इस कोशिशमें आपका बतलाया हुआ दोष तो नहीं ही है।"

"अगर आप इस तरह आन्दोलन का संचालन करते हों तो मुझे कुछ भी नहीं कहना है। यह एक जुदी बात है कि इस यंत्र-युगमें चर्खा टिकेगा या नहीं। फिर भी मैं तो आपकी सफलता चाहता हूं।"

७०

पूर्णाहुति

अब इन अध्यायोंको बन्द करनेका समय आ पहुंचा है। इससे आगेका मेरा जीवन इतना अधिक सार्वजनिक हो गया है कि जनता उसके विषयमें कुछ भी न जानती हो, यह संभव नहीं। असहयोग-आंदोलनका जन्म और नागपुर-कांग्रेसमें खिलाफतके सवालको लेकर असहयोग प्रयोगका और हिन्दू-मुस्लिम एकता साधनेका प्रयत्न—इन सब बातोंका यहाँ निर्देश-मात्र किए देता हूं, और सन् १९२१ के सालसे तो मैं कांग्रेसके नेताओं के साथ इतना हिल-मिलकर रहा हूं कि कोई बात ऐसी नहीं है कि जिसका यथार्थ वर्णन मैं उनका जिक्र किये बिना कर सकूं। इन बातोंके स्मरण अभी ताजे ही हैं। श्रद्धानन्दजी, देशबन्धु, लालाजी और हकीम साहब आज हमारे बीच नहीं हैं, फिर भी सौभाग्यसे दूसरे बहुत-से नेता अभी मौजूद हैं। कांग्रेसके महा-परिवर्तनके बादका इतिहास तो अभी तैयार हो रहा है। मेरे मुख्य प्रयोग कांग्रेसके द्वारा ही हुए हैं, इसलिए उन प्रयोगोंका वर्णन करते समय नेताओंका उल्लेख करना अनिवार्य है। औचित्य-की दृष्टिसे इन बातों का वर्णन मुझे अभी नहीं करना चाहिए

और जो प्रयोग अभी हो रहे हैं उनके संबंधमें मेरे निर्णय निश्चयात्मक नहीं कहे जा सकते, इसलिए भी इन अध्यायोंको फिलहाल बन्द कर देना ही मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूं। अगर यह कहूं कि मेरी लेखनी ही आगे बढ़नेसे इन्कार करती है तो भी अत्युक्ति न होगी।

पाठकोंसे विदा मांगते हुए मुझे दुःख होता है। मेरी दृष्टिमें मेरे प्रयोग अभी बहुत कीमती हैं। मुझे पता नहीं, मैं उनका यथार्थ वर्णन कर सकता हूँ या नहीं। मैंने अपनी ओरसे तो ठीक-ठीक वर्णन करनेमें कुछ उठा नहीं रखा है। मैंने सत्यको जिस रूपमें देखा है और जिस राहसे देखा है उसे उसी रूपमें, उसी राहसे, बतानेकी हमेशा कोशिश की है और साथ ही पाठकोंके सम्मुख उन वर्णनोंको रखकर मैंने अपने चित्तमें शान्तिका अनुभव किया है, क्योंकि मुझे उनसे यह आशा रही है कि उनके पढ़नेसे पाठकोंके हृदयमें सत्य और अहिंसा के प्रति अधिक श्रद्धा उत्पन्न होगी।

मैं सत्यको ही परमेश्वर मानता आया हूं। अगर पाठकोंको इन अध्यायोंके पन्ने-पन्नेमें यह प्रतीति न हुई हो कि सत्यमय बननेके लिए अहिंसा ही एक राजमार्ग है, तो मैं अपने इस प्रयत्नको व्यर्थ समझूंगा। प्रयत्न भले ही व्यर्थ हो, लेकिन सिद्धान्त तो निरर्थक नहीं है। मेरी अहिंसा सच्ची होते हुए भी कच्ची है, अपूर्ण है। इसलिए मेरे सत्यकी झलक उस सत्य-रूपी सूर्यके तेजकी एक किरणमात्रके दर्शनके समान है, जिसके तेजका माप हजारों साधारण सूर्योंको इकट्ठा करनेपर भी नहीं हो सकती। अतः अबतकके अपने प्रयोगोंके आधारपर इतना तो मैं अवश्य कह सकता हूं कि इस सत्यका संपूर्ण दर्शन, अहिंसाके अभावमें अशक्य है।

ऐसे व्यापक सत्यनारायणके प्रत्यक्ष दर्शनके लिए प्राणिमात्रके प्रति आत्मवत् (अपने समान) प्रेमकी बड़ी भारी जरूरत है। इस सत्यको पानेकी इच्छा करनेवाला मनुष्य जीवनके एक भी क्षेत्रसे बाहर नहीं रह सकता। यही कारण है कि मेरी सत्य-पूजा

मुझे राजनैतिक क्षेत्रमें घसीट ले गई। जो यह कहते हैं कि राजनीतिसे धर्मका कोई संबंध नहीं है, मैं निःसंकोच होकर कहता हूँ कि वे धर्मको नहीं जानते—और मेरा विश्वास है कि यह बात कहकर मैं किसी तरह विनयकी सीमाको लांघ नहीं रहा हूँ।

बिना आत्म-शुद्धिके प्राणि-मात्रके साथ एकताका अनुभव नहीं किया जा सकता और आत्मशुद्धिके अभावमें अहिंसा धर्मका पालन करना भी हर तरह नामुमकिन है। चूंकि अशुद्धात्मा परमात्माके दर्शन करनेमें असमर्थ रहता है, इसलिए जीवन-रथके सारे क्षेत्रोंमें शुद्धिकी जरूरत रहती है। इस तरहकी शुद्धि साध्य है, क्योंकि व्यष्टि और समष्टिके बीच इतना निकटका संबंध है कि एककी शुद्धि अनेककी शुद्धिका कारण बन जाती है और व्यक्तिगत कोशिश करनेकी ताकत तो सत्यनारायणने सब किसीको जन्म ही से दी है।

लेकिन मैं तो पल-पलपर इस बातका अनुभव करता हूं कि शुद्धिका यह मार्ग विकट है। शुद्ध होनेका मतलब तो मनसे, वचनसे और कायासे निर्विकार होना, राग-द्वेषादिसे रहित होना है। इस निर्विकार स्थिति तक पहुंचने के लिए प्रतिपल प्रयत्न करनेपर भी मैं उसतक पहुंच नहीं सका हूँ। इस कारण लोगोंकी प्रशंसा मुझे भुला नहीं सकती, उलटे बहुधा वह मेरे दुःखका कारण बन जाती है। मैं तो मनके विकारों को जीतना सारे संसारको शस्त्र-युद्ध करके जीतनेसे भी कठिन समझता हूँ। भारतमें आनेके बाद भी मैंने अपनेमें छिपे हुए विकारोंको देखा है, देखकर शर्मिन्दा हुआ हूँ, लेकिन हिम्मत नहीं हारी है। सत्यके प्रयोग करते हुए मैंने सुखका अनुभव किया है, आज भी उनका अनुभव कर रहा हूं। लेकिन मैं जानता हूं कि अभी मुझे बीहड़ रास्ता तय करना है। इसके लिए मुझे शून्यवत् बनना पड़ेगा। जबतक मनुष्य स्वतः अपने-आपको सबसे छोटा नहीं मानता है तबतक मुक्ति उससे दूर रहती है। अहिंसा नम्रताकी पराकाष्ठा है, उसकी हद है और यह अनुभव-सिद्ध बात है कि

इस तरहकी नम्रताके विना मुक्ति कभी नहीं मिल सकती। इसलिए अभी तो ऐसी अहिंसक नम्रता पानेकी प्रार्थना करते हुए और उसमें संसारकी सहायताकी याचना करते हुए मैं इन अध्यायोंको समाप्त करता हूँ।

●

गांधीजी की अन्य पुस्तकें

१. आत्मकथा
२. प्रार्थना-प्रवचन (२ भाग)
३. गीता-माता
४. पन्द्रह अगस्त के बाद
५. धर्मनीति
६. ब्रह्मचर्य (दो भाग)
७. आत्मसंयम
८. द० अफ्रीका-सत्याग्रह
९. अनीति की राह पर
१०. गीताबोध
११. अनासक्तियोग
१२. ग्राम-सेवा
१३. मंगल-प्रभात
१४. नीति-धर्म
१५. आश्रमवासियों से
१६. हमारी मांग
१७. सत्यवीर की कथा
१८. सर्वोदय
१९. हिन्द-स्वराज्य
२०. हृदय-मंथन के पांच दिन
२१. बापू की सीख
२२. गांधी-शिक्षा (३ भाग)
२३. आज का विचार (२ भाग
२४. गांधीजी ने कहा था (छः भाग)

एक रुपया